निवेदन

वर्त्तमान हिन्दी साहित्य में कविवर प्रसादजी का स्थान बहुत ऊँचा है। उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा ने हिन्दी के प्रायः सभी क्षेत्रों को अलंकृत किया है। प्रसादजी हमारे सामने कवि, नाटककार, प्रबन्ध-काव्यकार, कहानी और उपन्यास लेखक सभी रूप में आते हैं। उनकी कला के सम्बन्ध में उनके जीवन काल में ही कई पुस्तकें निकल जानी चाहिए थीं किन्तु हिन्दू लोग केवल मृतक-श्राद्ध ही जानते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के लिए हम लोग यह दावा तो नहीं करते कि उसके द्वारा हम प्रसादजी की प्रतिभा का पूर्ण उद्घाटन कर सके हैं, किन्तु हम यह अवश्य कहेंगे कि उसमें प्रसादजी के प्रत्येक साहित्यिक रूप पर थोड़ा बहुत प्रकाश डाला गया है यद्यपि इस पुस्तक के लेख भिन्न-भिन्न लेखकों की लेखनी से निकले हैं तथापि इस पुस्तक के सम्पादन में यह दृष्टिकोण रक्खा गया है कि प्रसादजी की कला के भिन्न-भिन्न अङ्गों को पृथक रूप से समझ कर उनकी विचार धारा, शैली, भाषा छन्द योजना आदि का समष्टि रूप से भी अध्ययन हो जाय।

एक ही व्यक्ति के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न लोगों से लेख लिखाने में चाहे समन्वय की भावना कम रहे (यद्यपि ऐसा इस पुस्तक में नहीं होने पाया है) किन्तु कार्य विभाजन के कारण भिन्न भिन्न पहलुओं का विशेष अध्ययन हो जाता है।

यदि इस पुस्तक को प्रकाशित कर हम प्रसाद साहित्य के विद्यार्थियों की कुछ सहायता कर सके तो हम अपने को कृतकृत्य समझेंगे।

आगरा
ज्येष्ठ शुक्ला १०
१९९५

गुलाबराय
महेन्द्र

विषय-सूची

आत्मकथा

मधुप गुन-गुनाकर कह जाता कौन कहानी यह अपनी
मुरझा कर गिर रहीं पत्तियाँ देखो कितनी आज घनी
इस गम्भीर अनन्त नीलिमा में असंख्य जीवन इतिहास
देखो करते ही रहते हैं अपना व्यङ्ग मलिन उपहास
तब भी कहते हो कह डालूँ दुर्बलता अपनी बीती
तुम सुनकर सुख पाओगे देखोगे यह गागर रीती
किन्तु कहीं ऐसा न हो कि तुमही खाली करने वाले
अपने को समझो मेरा रस ले अपनी भरने वाले
यह विडम्बना ! अरी सरलते तेरी हँसी उड़ाऊँ मैं
भूलें अपनी या प्रवञ्चना औरों की दिखलाऊँ मैं
उज्ज्वल गाथा कैसे गाऊँ मधुर चाँदनी रातों की
अरे खिल-खिलाकर हँसते होने वाली उन बातों की
मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया
आलिङ्गन में आते आते मुसक्या कर जो भाग गया
जिसके अरुण कपोलों की मतवाली सुन्दर छाया में
अनुरागिनी उषा लेती थी निज सुहाग मधुमाया में
उसकी स्मृति पाथेय बनी है थके पथिक की पन्था की
सीवन को उधेड़ कर देखोगे क्यों मेरी कन्था की
छोटे-से जीवन की कैसे बड़ी कथायें आज कहूँ
क्या यह अच्छा नहीं कि औरों की सुनता मैं मौन रहूँ
सुनकर क्या तुम भला करोगे मेरी भोली आत्मकथा
अभी समय भी नहीं, थकी सोई है मेरी मौन व्यथा

प्रसादजी की जीवन-कथा

प्रसाद जी का जन्म माघ शुक्ल १२, १६४६ को ऐसे कुल में हुआ था, जहाँ कहावत है—सोने की कटोरी में दूध-भात खाते हैं। सुँघनी साहु का घराना काशी में मशहूर है। वैश्य हलवाई समाज के बाहर भी इस घराने की खूब मान-प्रतिष्ठा है। पितामह बाबू शिवरत्न ने जरदा, सुरती और तम्बाकू से कारोबार को बढ़ाकर खूब धन और यश पैदा किया, साथ ही दोनों हाथों से दान भी देते रहे। उनकी दानशीलता की कहानी अब भी काशी के बड़े-बूढ़ों की जबान पर है। कहते हैं, अन्य लोग साक्षात होने पर 'महादेव' शब्द उच्चारण कर उनका स्वागत करते थे। यह प्रतिष्ठा काशी मे काशी नरेश को छोड़ कर और किसी को प्राप्त नहीं है। साहु शिवरत्न के सुपुत्र बाबू देवीप्रसाद ने अपने पिता और वंश की प्रतिष्ठा कायम रक्खी। उनके दो लड़के हुए—ज्येष्ठ शम्भुरत्न और कनिष्ठ जयशंकर।

जयशंकर का बचपन खुशहाली में बीता। अपने बाद के जीवन में प्रसादजी अपने बाल-काल की स्मृतियां अपने इष्ट-मित्रों को सुनाया करते थे। लेकिन पुराने वैभव को लेकर उनमें अभिमान जरा भी न था। लड़कपन में उन्हें कसरत का भी

बहुत शौक था। इसीलिए अन्तिम दिनों से एक साल पहले तक उनका शरीर बहुत सुन्दर, तेजोमय और भव्य रहा। जिन लोगों ने उन्हें देखा है, उनके व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना न रहे होंगे। उन्हें घुड़सवारी से भी शौक था। वह अच्छे सवार थे। जब उनके मित्र मोटर लेकर उनके पास जाते। तो प्रसादजी कहा करते "सवारी तो घोड़े की है।" एक सहृदय कवि जड़ मशीन से कब सन्तुष्ट हो सकता था।

जयशङ्कर की स्कूली शिक्षा अल्पकालिक रही। स्थानीय क्वीन्स कालेज में वे सातवें दर्जे तक पढ़ सके। इसी समय १२ वर्ष की अवस्था में,उनपर और उनके परिवार पर वज्रपात हुआ। पिता गया। परिवार का सारा भार ज्येष्ठ भ्राता शम्भुरत्न पर आ का स्वर्गवास हो पड़ा। उन्होंने स्कूल में तो नहीं, घर में जयशङ्कर की पढ़ाई की व्यवस्था की। विभिन्न अध्यापकों की सहायता से जयशङ्कर ने अँग्रेजी, हिन्दी, उर्दू, फारसी और संस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया। संस्कृत की ओर उनकी विशेष रुचि रही। इसी समय उनमें पुरातत्व-साहित्य के अध्ययन का बीज पड़ा। जिसके फलस्वरूप आगे चलकर प्रसादजी ने अपने प्राचीन साहित्य-सम्बन्धी ज्ञान और बौद्ध कालीन इतिहास, वेद, पुराण, उपनिषद, स्मृति आदि गहन विषयों के अध्ययन से हिन्दी-साहित्य को परिपूरित किया।

१७ वर्ष की अवस्था में प्रसाद जी पर दूसरी विपत्ति पड़ी। बड़े भाई का स्वर्गवास हो गया। सारे परिवार और बड़े

व्यवसाय का बोझ कोमल किशोरवय बालक पर आ पड़ा। इस समय उनके सामने दो बड़ी समस्याएँ थीं। एक ओर तो बड़े भाई की अपूर्व दानशीलता और शाह-खर्ची के कारण चढ़ा हुआ पारिवारिक कर्ज। दूसरी ओर नाबालिगपन का लाभ उठाकर कुछ स्वार्थी सम्बन्धी उनकी जायदाद हड़प करने की चेष्टा कर रहे थे। प्रसाद जी ने इस सांसारिक घात-प्रतिघात द्वन्द और कोलाहल का साहसपूर्वक सामना किया और इसमें सफल भी हुए। सन् १६२६-३० तक उन्होंने समस्त पारिवारिक कर्ज अदा कर दिया।

जीवन-यापन के इन्हीं दिनो में प्रसादजी का व्यक्तित्व और संसार के प्रति उनकी विचारधाराओं की सृष्टि हुई। बाद में गहन अध्ययन के कारण उनमें दार्शनिकता आ गई। इन सब बातों की छाया उनकी रचनाओं में है। यह भी याद रहे, उन दिनों आज की भाँति जनता में राष्ट्रीय जागरण न था। उस समय साधारण-वर्गों में आर्यसमाजी आन्दोलन ही क्रान्ति का प्रतीक था। कहा जाता है, आदमी पर उसकी जवानी के दिनों का वातावरण उसके हृदय-पटल पर अमिट रेखा छोड़ जाता है। शायद इसी कारण प्रसादजी के उपन्यासों में आर्यसमाजी क्रान्ति का चित्र मिलता है।

अपने बड़े भाई के जीवन-काल में ही प्रसादजी को कविता से शौक हो गया था। असमय में ही पड़नेवाली विपत्तियों ने शायद किशोर प्रसाद के कोमल-हृदय को आक्रान्त कर दिय

था—उसमें टीस उत्पन्न की थी, जिसकी अभिव्यक्ति तुकबन्दियों में हुई। उस अल्हड़ जवानी में दूकान पर बैठकर प्रसादजी बहीखाते के रद्दी कागजों की पीठ पर कविताएँ लिखा करते थे। इस पर उनके बड़े भाई रुष्ट भी हुए थे, क्योंकि उनका ख्याल था कि इससे दूकान के काम में बाधा पड़ती है।

१६०७-८ के लगभग प्रसादजी की प्रारम्भिक कविताएँ सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगीं। उनकी प्रारम्भिक कविताएँ संस्कृत कवियों के अनुसरण पर, ब्रजभाषा की पुरानी शैली में हैं। इसके बाद प्रसादजी ने खड़ी बोली में लिखना शुरू किया। नई शैली की कविता लिखने वालों में प्रसादजी प्रथम हैं। उस काल में उन्होंने अपनी आँखों से नई पीढ़ी के कवियों के प्रति पुराने हिन्दी-सहित्यिकों की प्रतिक्रिया—लोकमत की क्रीड़ा देखी। उन्हीं की प्रेरणा से काशी से 'इन्दु' निकला, जिसमें उनकी रचनाएँ बराबर प्रकाशित होती रहीं। खेद है, 'इन्दु' असमय में ही बन्द हो गया।

प्रसादजी की प्रारम्भिक कविताओं का प्रथम संग्रह, कानन-कुसुम लगभग १६११ अथवा १६१२ में प्रकाशित हुआ। उनकी अन्य प्रारम्भिक कविता-पुस्तकें हैं—प्रेम-पथिक और महाराणा का महत्त्व। इन काव्य-ग्रन्थों ने हिन्दी-कविता साहित्य में उथल-पुथल मचा दी। आज प्रसादजी हिन्दी के युग-प्रवर्त्तक कवि हैं।

प्रसादजी ने कविताएँ ही नहीं लिखीं, नाटकों की ओर भी

ध्यान दिया। उनका सब से पहला नाटक सज्जन है। यह अब अप्राप्य है। प्रारम्भिक नाटकों में उन्होंने काव्य का ही अधिक सहारा लिया है। नाटक के सभी पात्र कविता में बातचीत करते थे। करुणालय और उर्वशी नाटक ऐसे ही हैं। इसके बाद उन्होंने यह शैली छोड़ दी। प्रसादजी के बाद के नाटक खूब प्रसिद्ध हुए। कविता की भाँति प्रसादजी ने नाटकों में भी युग-परिवर्त्तन किया। उनके जैसा नाटककार हिन्दी में आज भी कोई नहीं। प्रसादजी के अधिक नाटक ऐतिहासिक हैं। उनका आधार-स्तम्भ प्राचीन भारतीय सभ्यता है। प्रसादजी के कुछ प्रसिद्ध नाटकों की सूची—चन्द्रगुप्त, अजातशत्रु, स्कन्द गुप्त, जनमेजय का नागयज्ञ, कामना, ध्रुवस्वामिनी।

सन् १६११ में प्रसादजी की पहली कहानी ग्राम शीर्षक से 'इन्दु' में प्रकाशित हुई। यह हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी है। संवत् १६४६ में प्रसादजी की ५ मौलिक कहानियों का 'छाया' नामक हिन्दी का प्रथम कहानी-संग्रह प्रकाशित हुआ। अब 'छाया' के तीसरे संस्करण में प्रसादजी की सं० १६६६ से १६७५ तक लिखी हुई ११ कहानियाँ संग्रहीत हैं। कविता और नाटकों की भाँति प्रसादजी ने कहानी के क्षेत्र में भी युगान्तर उपस्थित किया। प्रेमचन्द और सुदर्शन प्रसाद के बाद कथा-क्षेत्र में आए। उनकी कहानियाँ काफी लोकप्रिय हुईं। फिर भी कहानी-साहित्य में प्रसादजी का अपना स्थान है। इन कहानियों में भी ज्यादातर प्राचीन भार-

तीय सभ्यता को प्रकाश में लाने वाली हैं। कितनी सामाजिक कहानियाँ थीं! अभी थोड़े दिन हुए प्रसादजी की नई कहानियों का संग्रह 'इन्द्रजाल' प्रकाशित हुआ था।

कुछ लोग आश्चर्य करते हैं कि किस तरह प्रसादजी व्यवसाय के साथ ही साहित्य की भी सृष्टि कर सके। इसके सिवा संस्कृत-साहित्य के अध्ययन में भी उनका काफ़ी समय जाता था। इन सब बातों से पता चलता है कि प्रसादजी कितने कर्मशील व्यक्ति थे। गोवर्द्धन सराय में उनके घर पर तथा नारियल बाजार वाली उनकी दूकान पर साहित्यिकों का ताँता लगा रहता था। एक तरफ वह व्यवसाय को सँभालते थे, दूसरी तरफ साहित्यिक वार्त्तालापों का भी रस लिया करते थे। अधिकतर वह मंडली के बीच तटस्थता का भाव ग्रहण करते थे। और लोग बातें करते थे, प्रसादजी चुपचाप सुना करते थे। बीच-बीच में अपनी मधुर मुसकान के साथ दो-एक सरस बातों तथा पुरानी जीवन-स्मृतियों के साथ मंडली को मुखरित कर देते थे।

प्रसादजी विज्ञापन से बहुत डरते थे। * 'इन्टरव्यू', 'सम्मति', विवाद-ग्रस्त प्रश्नों के उत्तर—इनसे वह दूर रहते थे। क्योंकि वह जानते थे कि बीसवीं शताब्दी के पत्रकार कैसे तिल का ताड़ बना लेते हैं। सभाओं और कवि-सम्मेलनों में लोग

* प्रथम पृष्ठ पर प्रकाशित प्रसादजी के पत्र से इस कथन की पुष्टि होती है।

उन्हें बुलाते, लेकिन प्रसादजी हँस कर टाल देते। अगर कोई लेखक उनसे उनके जीवन-सम्बन्धी सामग्री की माँग करता, तब भी वह मौनावलम्बन कर लेते। जो लोग उनके सम्बन्ध में लिखते थे, उन्हें उन्होंने कभी प्रोत्साहन का एक शब्द भी नहीं लिखा। उनकी रचनाओं के विरुद्ध लिखने वालों से भी उन्होंने कभी कुछ नहीं कहा—हमेशा हँसकर उनका स्वागत किया।

प्रसादजी अपनी स्वजाति के उत्थान में योग देने के लिए हमेशा तत्पर रहते थे। अपने स्वजातियों के मिलने पर इस विषय पर काफी चर्चा करते और परामर्श देते। वैश्य हलवाई समाज की हीनावस्था पर वह बहुत दुखी थे। अशिक्षा पर तो उनकी आँखों मे आँसू भर आते थे। लेकिन वे कोई काम ढिंढोरा पीटकर नहीं करना चाहते थे। कान्यकुब्ज वैश्य हलवाई महासभा के अखिल भारतवर्षीय अधिवेशन के सभापतित्व के लिए कई बार उनसे प्रार्थना की गई, लेकिन उन्होंने सदैव असमर्थता प्रकट की। सन् २६ मे आपने किसी तरह इस पद को कबूल किया, लेकिन इसी समय घर में किसी के बीमार पड़ जाने के कारण वह महासभा मे भाग न ले सके और थोड़े दिनों बाद सरदारी के पद से इस्तीफा दिया।

सन् १६२५ मे प्रसादजी की अत्यन्त प्रसिद्ध कविता-पुस्तक आँसू की रचना हुई। आँसू के बहुत से छन्दों की रचना बगीचे में अथवा गंगा के वक्ष-स्थल पर नाव पर हुई। रुई की मिर-

जई, जिस पर सिंघाड़े-से कटे हुए, जेब में चश्मे का केस और पेंसिल तथा पाकेट-बुक रखे हुए, ऊपर से शाल ओढ़ कर—इस तरह की वेश-भूषा में टहलते हुए कवि प्रसाद अक्सर इन दिनों 'आँसू' की पंक्तियाँ गुनगुनाया करते थे।

दिसम्बर १६३१ में प्रसादजी ने सपरिवार कलकत्ता और पुरी आदि स्थानों की यात्रा की। पुरी के समुद्र-तट पर ही उन्होंने अपनी इन बहुविख्यात पंक्तियों की रचना की।

"ले चल वहाँ भुलावा देकर
मेरे नाविक धीरे-धीरे।"

इन दिनों प्रसादजी ने 'जागरण' में काफी दिलचस्पी ली। 'इन्दु' के बाद एक तरह से 'जागरण' दूसरा पत्र है, जिसकी ओट में प्रसादजी का व्यक्तित्व था। पाक्षिक 'जागरण' विनोद-शंकर व्यास प्रकाशित करते थे। प्रसादजी उसके प्रत्येक अङ्क में कुछ मैटर दिया करते थे। 'जागरण' का नाम उन्होंने ही रखा। इसे वह खूब फलते-फूलते देखना चाहते थे। उनकी अगनित स्मृतियों के खंडहर में 'जागरण' भी दबा पड़ा है।

'कामायनी' महाकाव्य प्रसादजी की अन्तिम भेंट है। इसे समाप्त कर वह 'इरावती' उपन्यास लिखना चाहते थे। कामायनी रचना उनके अथक परिश्रम और अटूट अध्ययन के फलस्वरूप है। इसे लिखकर उन्होंने श्री विनोदशंकर व्यास से कहा था—कामायनी लिखकर मुझे संतोष है।

१६३६ में लखनऊ में बड़ी प्रदर्शिनी हुई। वहाँ से लौटने

के कुछ ही दिनों बाद २२ जनवरी को प्रसादजी ज्वर से पीड़ित हुए। २२ फरवरी को उनके कफ की जाँच कराई गई तो पता लगा प्रसादजी को राजयक्ष्मा हो गया है। दिनों-दिन उनकी तबीयत गिरती गई। प्रसादजी शायद इस भयानक रोग के अन्तिम परिणाम से भली-भाँति परिचित हो गए थे। डाक्टरों ने उन्हें बाहर जाने की सलाह दी, लेकिन उन्होंने काशी नहीं छोड़ी। कहा—जो कुछ होना होगा यहीं होगा। बीमारी के अन्तिम दिनों में उन्हें चर्म-रोग भी हो गया। अब उनकी सूखी हड्डियों पर चर्म का पतला-सा आवरण-मात्र रह गया था। वह सुन्दर मनोरम आकृति कितनी भयानक हो उठी थी। ९-१० नवम्बर से हालत बिगड़ने लगी। एकादशी की शाम को हालत ज्यादा खराब हो गई। साँस लेने में बहुत कष्ट होने लगा। डाक्टरों ने कहा—जो कुछ कहना हो कह दीजिए। प्रसादजी ने कहा—साँस लेने में बहुत कष्ट हो रहा है। उसे दूर करने की दवा दीजिए। ४॥ बजे जयशङ्करजी नश्वर शरीर के बन्धन से मुक्त होकर अमरों के लोक में पहुँच गये।

प्रसादजी की कला

प्रसादजी हिन्दी-साहित्य के सब से अधिक गम्भीर कवि थे। उन्होंने जीवन के रहस्यपूर्ण तथ्यों का रहस्यपूर्ण भाषा ही में प्रकाशन किया था। ज्ञात होता है कि वे आदि सृष्टि के अंतराल में सृजन शक्ति के प्रेरक-बीज थे। कामायनी की रहस्यमयी चरित्र-रेखा में उनकी यह शक्ति बहुमुखी होकर प्रकट हुई है।

प्रसादजी प्रथमतः ऐतिहासिक नाटककार थे। नाटक में मनोवैज्ञानिक संघर्ष की आवश्यकता होती है। पात्र के चरित्र-दर्शन में भावों की जटिल शृङ्खला भी स्पष्टता के साथ सामने आती है। प्रसादजी की इसी शैली का प्रभाव उनकी कविता पर भी पड़ा था। वे कहीं-कहीं बहुत मनोवैज्ञानिक हो गए हैं। भावना की चरम अभिव्यक्ति अनेक रूपों में हमारे सामने आती है। जिस प्रकार सूरदास ने अपने भ्रमरगीत में वियोग-शृंगार के प्रत्येक संचारी भाव को गोपिकाओं के अनुभाव और उपालम्भ में प्रदर्शित किया है, उसी प्रकार प्रसादजी ने भी करुणा की चित्रावली प्रस्तुत की। उनके 'आँसू' में जीवन की कितनी करुणा है! हृदय के अपरिमित भावोंका इन्द्रधनुष जैसे

आँसू के छोटे सेबूँद में प्रति बिम्बित हैं। जीवन जैसे करुणा की राशि में परिवर्तित हो गया है।

प्रसादजी की गम्भीरता कहीं कहीं अस्पष्ट हैं। यह उनकी गहरी रहस्यवाद की विवेचना का ही फल है। यदि कबीर जैसा स्पष्ट महाकवि अपनी सरल भाषा में भी रहस्यवाद का विवेचन करता हुआ अस्पष्ट हो जाता है, तो प्रसाद की कठिन भाषा में ऐसा होना कोई आश्चर्यजनक नहीं। प्रसाद भावों के साथ-साथ भाषा में भी गूढ़ हो जाते हैं। जैसे वे एक मौन तपस्वी हैं। जब तक प्रसाद का दार्शनिक और कवि एक रूपता लिए रहता है तब तक तो कविता एक सदेशवाहिनी बनी रहती हैं। किन्तु, जहाँ प्रसाद के दार्शनिक ने कवि पर विजय पाई वहाँ उनकी पक्तियाँ में केवल शास्त्र की जटिल विवेचनाएँ ही सूत्रों की भाँति अगम और दुर्बोध हो जाती हैं। अधिक स्थानों पर उनकी भावुकता का रहस्यवाद से मिलाप हुआ है, और वहाँ कवि का सदेश महान शब्दो मे घोषित हुआ है। यही सदेश कवि की प्रतिभा का द्योतक है प्रसादजी भावो की चित्रावली में सब रग भरते हैं तब वे कोमल कवि हैं, जब वे भावों के रेखा चित्र खींचते हैं, तब वे दार्शनिक हैं।

प्रसादजी जहाँ कहीं गीतों की सृष्टि करते हैं वहाँ वे पूर्ण सफल हैं। एक भावना का आरोह और अवरोह वे भली प्रकार जानते हैं, और इसीलिए भाव चित्रण में वे सिद्धहस्त हैं। गीति काव्य की रचना करते समय वे भावों की शृङ्खला मे नहीं

उलझते, वे भावना का स्वाभाविक प्रवाह ही पंक्तियों में प्रदर्शित कर देते हैं। यही उनके गीतिकाव्य की सफलता है।

स्कन्दगुप्त में चरित्र की संघर्षमयी भावना में भी जहाँ गीतों की सृष्टि हुई है, वहाँ प्रसादजी बड़े कोमल कवि के रूप में दृष्टिगत होते हैं।

प्रसादजी उपन्यास-लेखक और कहानीकार भी थे। उनका कंकाल उपन्यास और आकाशदीप कहानी-संग्रह हिन्दी-साहित्य की निधियाँ हैं। जीवन की आलोचना कितने रूप ले सकती है, यह बात उनकी कहानियो से स्पष्ट है। इन समस्त आलोचनाओं में हिन्दू-संस्कृति की छाप है। उनका ऐतिहासिक अध्ययन इतना विस्तृत है कि वह उनके साहित्य ज्ञान की विपुलता में समानान्तर होकर एक हो गया है। इसोलिए उनके नाटकों और कहानियों मे यह ऐतिहासिक तथ्य न तो तत्वान्वेषी की नीरसता लेता है और न उपदेशक की तीव्रता। उनका समस्त दृष्टिकोण कला का बहुरंगी रूप धारण कर जीवन में प्रकाश डालने वाला एक ज्योतिस्तूप हो जाता है। नाटक, उपन्यास और कहानियों में प्रसादजी आध्यात्मिकता को नहीं भूलते। कल्पना-जगत में वे चित्रो की सृष्टि अवश्य करते हैं, पर वे उन्हें लोकिकता से नहीं सजाते। उनके सजाने की सामग्री है, एक अध्यात्मिक संकेत।

प्रधानतः प्रसादजी हमारे साहित्य के दार्शनिक कवि थे।

कविवर प्रसाद
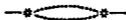
कलाकार जयशंकरप्रसादजी की प्रत्येक रचना में कवि हृदय का स्पन्दन स्वभाव रूप से विद्यमान है। प्रसादजी का जीवन काव्यमय था। वे एकांगी थे—उनका साहित्य सर्वांगीण है। जयशंकरप्रसाद के पूरे अध्ययन के लिए उनका कवि-रूप समझना अनिवार्य है। कहानियों, नाटकों, तथा उपन्यासों में उनकी काव्यात्मा अप्रकट रूप से ध्वनित हुई है।

कवि प्रसादजी का खड़ी बोली कविता के विकास के इतिहास में प्रमुख स्थान है। आपकी कविता उस समय आविर्भूत हुई जिस समय हिन्दी का द्विवेदी-युग प्रारम्भ हो रहा था। यह वह युग था जब हिन्दी काव्य को ब्रज भाषा की मधुरता के सामने अपना अस्तित्व बनाना पड़ रहा था। स्वयं प्रसादजी ने सर्व प्रथम ब्रज भाषा में अपनी प्रारम्भिक कविताएँ लिखीं। उन्होंने संस्कृत और बंगला से आत्म प्रेरणा पाई और हिन्दी कविता की पुरानी शैली से पृथकत्व प्राप्त किया। सम्वत् १९६६ में प्रसादजी की ब्रज भाषा की रचनाओं का एक संग्रह "कानन कुसुम" के नाम से प्रकाशित हुआ। इसमें अधिकतर कविताएँ भाव प्रधान न होकर इतिवृत्तात्मक

हैं। कुछ कविताएँ तो प्राचीन आख्यानों की साधारण अभिव्यक्ति हैं। यह संग्रह प्रसादजी के काव्य-विकास को समझने के लिए आवश्यक है, अन्यथा इसका स्वतन्त्र महत्व नहीं के बराबर है।

खड़ी बोली के क्षेत्र में, प्रसादजी द्विवेदी-युग के प्रभाव से अलग रहे। आपकी कविताएँ भी अधिकतर 'सरस्वती' में न छपकर "इन्दु" मासिक-पत्र में प्रकाशित होती थीं। "चित्राधार", जो प्रसादजी की तत्कालीन गद्य-पद्यमय रचनाओं का संग्रह है, देखने पर आपके साहित्यिक क्रम-विकास का परिचय मिलता है। खड़ी बोली की कविताएँ प्रारम्भ में ब्रजभाषा की परम्परा का अनुकरण-मात्र थीं। प्रसादजी ने भी मुख्यतः प्रेम तथा शृङ्गार पर रचनाएँ कीं। परन्तु आपने उनमें ब्रजभाषा-काव्य से कई विभिन्नतायें भी रखीं। प्रसादजी ने प्रकृति को उद्दीपन के रूप में न लेकर आलम्बन के रूप में ग्रहण करने का प्रयत्न किया। प्रसादजी का संस्कृत का अध्ययन बहुत बढ़ा हुआ था। इसीलिए आपने उस समय एक नवीन पथ की ओर पैर बढ़ाया। आपने संस्कृत कवियों की ध्वन्यात्मक शैली लेकर हिन्दी काव्य-क्षेत्र में एक नवीन व्यक्तिकरण की शैली प्रचलित करने का प्रयास किया। इस प्रकार प्रसादजी एक नवीन भावाभिव्यक्ति-शैली लेकर आगे बढ़े। आपकी कविताएँ जनता को रुचिकर प्रतीत हुईं, उसने आपकी नवीन शैली का अनुकरण किया।

ऐसी ही परिस्थिति में आपकी दूसरी रचना "प्रेम-पथिक" निकली। संवत् १९६२ में प्रसादजी ने इसे ब्रजभाषा में लिखा था। परन्तु संवत् १९७० में आपने उसका 'परिवर्तित, परिवर्द्धित तुकान्त-विहीन' रूप कर दिया। प्रसादजी को साहित्यिक शुद्ध अतुकान्त कविता का जन्मदाता मानना चाहिए। आपने अतुकान्त कविता किसी साहित्यिक सिद्धान्त-वश नहीं अपितु उसको अधिक स्वाभाविक तथा वार्तालाप, गीति-नाट्य के योग्य बनानेके लिए ही लिखा। प्रसादजी ने अतुकान्त कविता को एक सरता (monotony) के दोष से बचाने के लिए विभिन्न छन्दों में लिखा है प्रसादजी ने गीति-नाट्य अथवा प्रबन्ध-काव्य में, पात्रों के वार्तालाप में जो प्रवाह तथा स्वाभाविकता लाने का अतुकान्त-कविता द्वारा प्रयत्न किया उसमें वे सफल हुए तथा अन्य कवियों ने भी आपका अनुकरण किया। रायकृष्णदास के "उपवन" तथा पन्तजी की "ग्रन्थि" इसी अनुकरण के परिणाम हैं। आगे चलकर 'निराला' ने भी अतुकान्त गीत लिखे। प्रसादजी ने भी अपने 'लहर' नामक संग्रह में और भी कई प्रौढ़ अतुकान्त रचनाएँ लिखीं। 'निराला' और 'प्रसाद' मानो एक ही कण्ठ के दो उद्गार हैं। "प्रेम-पथिक" में अतुकान्त छन्द घनाक्षरी प्रयुक्त हुआ है। उसमें प्रवाह, लय, संगीत तथा ध्वनि सभी कुछ है। 'प्रसादजी की आरम्भिक कविताएँ जितनी सरल हैं, बाद की उतनी ही गूढ़ तथा कठिन। "प्रेम-पथिक" के कथानक में एक सरल प्रेम की कथा है।

बीच-बीच में कवि ने सुन्दर वाक्यों द्वारा भाषा पर अपना अधिकार प्रदर्शित किया है। प्रसाद जी की निम्न पंक्तियाँ हमें मुग्ध कर लेती है—

"पथिक ! प्रेम की राह अनोखी भूल-भूल कर चलना है
घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुए।"

× × ×

"नीलोत्पल के बीच सजाए मोती-से आँसू के बूँद !
हृदय-सुधानिधि से निकले हो, सब न तुम्हें पहिचान सके
प्रेमी के सर्वस्व अश्रुजल चिर-दुःखी के परम उपाय।"

× × ×

प्रसादजी ने छोटी-छोटी दो और अतुकान्त रचनाएँ कीं। एक का नाम है "महाराणा का महत्व" इसमें प्रसादजी ने महाराणा प्रताप के उदार चरित्र का चित्रण बड़ी सूक्ष्म, सरल तथा सफलता के साथ किया है। इस ऐतिहासिक काव्य में अतुकान्त छन्द प्रयुक्त हुआ है। इसी कारण इसमें कथा-प्रवाह और वाग्विदग्धता का पूरा समावेश हुआ है। प्रताप की आँखों की मुद्रा का वर्णन देखिये:—

"दोनों आखें उठ-उठ कर बतला रहीं
जीवन-मरण समस्या उनमें है भरी।"

महाराणा के उन्नत एवं पवित्र चरित्र की स्वीकृति उनके शत्रुओं के भी मुख से कराई गई है। यथा:—

"सखा सायक है सपूत निज देश का
मुक्त पवन मे पला हुआ वह वीर है।"

इसी पुस्तिका में रात्रि-वर्णन की ये सुन्दर पक्तियाँ आई हैं—

तारा-हीरक-हार पहन कर, चन्द्रमुख—
दिखलाती उतरी आती थी चाँदनी
शाही महलों के ऊँचे मीनार से
जैसे कोई पूर्ण सुन्दरी प्रेमिका—
मन्थर गति से उतर रही हो सौध से।"

"करुणालय" शीर्षक प्रसादजी की दूसरी छोटी रचना है। यह एक अतुकान्त गीति-नाट्य है और इसका कथानक वैदिक काल के पश्चात् किये गये भयंकर नरमेध यज्ञ से सम्बन्ध रखता है। चरित्र चित्रण करने में कोई विशेष प्रयास नहीं किया गया है। केवल कथानक को सीधे ढंग से सुन्दर शब्दों में लिपिबद्ध कर दिया गया है। 'रोहित' और 'शुन' शेफ' के चरित्र सुन्दर बन पड़े हैं। रोहित के निम्नस्थ शब्दों में मानों स्वयं प्रसादजी ही ध्वनित हो उठे हैं:—

"चलो सदा चलना ही तुमको श्रेय है।
खड़े रहो मत कर्म-मार्ग विस्तीर्ण है।"

और भी—

"अपनी आवश्यकता का अनुचर बन गया
रे मनुष्य ! तू कितने नीचे गिर गया
आज प्रलोभन-भय तुझसे करवा रहे

कैसे आसुर-कर्म ! अरे तू क्षुद्र है—
क्या इतना है ?"

उपर्युक्त काव्य-पुस्तके कोई विशेष महत्व की नहीं। फिर भी कवि प्रसाद का पूरा परिचय प्राप्त करने के लिए इनके सम्बन्ध मे जानना इसीलिए आवश्यक है कि वे कवि के अपरिपक्व मस्तिष्क से परिचय कराते है; दूसरे उनमे अनेकों स्थलों पर स्वतन्त्र रूप से बड़ी उच्चकोटि की कविताएँ हैं; फिर, हिन्दी की अतुकान्त कविता के इतिहास मे "करुणालय" आदि रचनाओं का महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि यहीं से अतुकान्त कविता का मात्रिक वृत्तों में प्रयोग आरम्भ होता है। उनमे गति, प्रवाह, रस, आरम्भ और अवसान सभी कुछ हैं।

उपरोक्त छोटी किन्तु महत्वपूर्ण युग-निर्मात्री काव्य-पुस्तकों के पश्चात् तो प्रसादजी का विकास बड़ी तीव्र गति से हुआ। वे इतिहास से मनोवृत्तियों की ओर झुके। आगे चलकर उनकी कविताएँ इतिवृत्तात्मक न होकर मनोवृत्तात्मक होती गई। बाह्य से अन्तर्जगत अधिक सत्य भासित होने लगा। कवि की दृष्टि शरीर से आत्मा पर पहुँची।

कविवर प्रसाद जी केवल अतुकान्त कविता के आरम्भकर्त्ता ही न थे अपितु उन्होंने हिन्दी में "छायावाद" का भी श्री-गणेश किया। इस विषय की कविताएँ "झरना" में संकलित हैं। "झरना" में हमें सर्वप्रथम प्रतिभावान कवि के दर्शन होते हैं। भाषा, भाव, छन्द, संगीत आदि सभी दृष्टियों से "झरना" एक

अनुपम काव्य कृति है। उससे एक युग का प्रारम्भ होता है। इसीलिये "झरना" काव्य इतिहास का एक स्वर्ण पृष्ठ है।

"झरना" खडी बोली में भावपूर्ण कविता करने का प्रथम सफल प्रयास है। यद्यपि इसमें सगीत और ध्वनि सौंदर्य की कमी है फिर भी छन्दों की विभिन्नताएँ पुस्तक को एकस्वर होने से बचाती हैं। "झरना" में कवि के विभिन्न समय एव परिस्थितियों में निकले हुए स्वतन्त्र उद्‌गार हैं प्रत्येक कविता की आत्मा में मूलत प्रेम है। अपनी विभिन्न मनोदशाओं (Moods) और भावों की सूक्ष्म अभिव्यञ्जना इस पुस्तक में की गई है। इतनी सुबोध भावात्मक कविता उस समय हिन्दी में नहीं लिखी जाती जाती थी। इसीलिए "झरना" आज भी हमारे लिए एक महत्वपूर्ण ग्रथ है।

"झरना" में कुल ४८ कविताएँ हैं। प्रत्येक में भावुकता एव प्रेम सूत्र दर्शनीय है। अनेको कविताएँ बहुत ही सुन्दर तथा उच्चकोटि की हैं। स्थान स्थान पर एक नैसर्गिक सत्ता की ओर अनिश्चित सकेत है। इसमें "छायावाद" अपनी प्राथमिक तथा अविकसित अवस्था में विद्यमान है। कवि "झरना" को देख कर उसके सौंदर्य तक ही सीमित नहीं रहता, अपितु—

"कल्पनातीत काल की घटना।
हृदय को लगी अचानक रटना॥
देखकर झरना—"

उसे 'बात कुछ छिपी हुई है गहरी' का भान होता है।

अपने काव्य-विषय से बाहर एक ऐसे छाया-लोक में कवि पहुँच जाता है जहाँ की बात को वह सांसारिक साधारण भाषा में नहीं व्यक्त कर सकता केवल संकेत भर कर देता है। ऐसे 'मूड' का चित्रण "झरना" की अनेकों कविताओं में हैं।

इसी प्रकार 'किरण' शीर्षक कविता में छायावाद की झलक है। प्रसाद जी के लिए 'किरण' "किसी अज्ञात विश्व की विकल-वेदना- दूती-सी" है। प्रकृति में "विषाद की मूक-छाया है। दीप के प्रति कवि का कथन है—

किसी माधुरी स्मित-सा होकर यह संकेत बताने को,
जला करेगा दीप, चलेगा यह सोता वह जाने को।"

"झरना" की अनेकों कविताओं में प्रसादजी के प्रेम-पूर्ण आशामय उद्‌गार हैं। कवि के लिए संसार आशामय है। 'मिलन' कविता में ये पक्तियाँ हैं—

"मिल गये प्रियतम हमारे मिल गये।
यह अलस जीवन सफल अब हो गया।
कौन कहता है जगत है दुःखमय,
यह सरस संसार सुख का सिंधु है।"

"झरना" से 'लहर" तक आते-आते प्रसाद की कविता में क्रान्तिपूर्ण परिवर्तन हो चुका है। भावों की प्रौढ़ता, विचारों की गम्भीरता और कल्पना की व्यंजना—सभी कुछ "लहर" में एकत्रित हैं। "झरना" में कवि की आत्मा जिन भावों को लेकर प्रस्फुटित हुई थी, उन्हीं भावों की प्रतिध्वनि

"लहर" में है। सूत्र एक ही है; परन्तु उसके व्यक्तीकरण में भेद है। वेदना की मात्रा अधिक हो गई है। शुद्ध कल्पना का समावेश हुआ है और आध्यात्मिकता से विराग ले लिया गया है।

"लहर" में शीर्षक-विहीन अनेकों प्रकार की कवितायें संग्रहीत हैं। अन्त में, "शेरसिंह का शस्त्र समर्पण", "पेशोला की प्रतिध्वनि", और "प्रलय की छाया" तीन अतुकान्त कवितायें हैं। बौद्ध इतिहास की घटनाओं और बौद्ध स्थलों पर भी दो एक सुन्दर कवितायें सकलित हैं। "लहर" की कविताओं में काव्य-जगत् की सुन्दरता खरे रूप में उतर आई है। एक बहुत ही मनोरम प्रभात-सम्बन्धी काल्पनिक चित्र इस प्रकार है—

"बीती विभावरी जाग री!
अम्बर पनघट मे डुबो रही—
ताराघट ऊषा नागरी।"

परन्तु कवि प्रसाद के प्रेमोद्गारो को यदि हम शत शत धाराओ मे फूटते, सुन्दर चन्द्रिका की किरणो पर एक काल्पनिक जगत् मे विचरण करते हुए देखने की अपेक्षा रखते हैं तो हमे उनकी सर्वप्रिय रचना "आँसू" को देखना चाहिए। "आँसू" ने हिन्दी काव्य की धारा का बदल दिया। वह हमारे काव्य-साहित्य में एक साका उपस्थित करती है। उसके बराबर लोकप्रिय रचना हिन्दी में बच्चन को छोड कम ही है।

अनेकों कवियों ने "आँसू" का अनुकरण किया। प्रेम और निराशा ये दो प्रधान बातें आँसू में हमें मिलती हैं। "आँसू" के कवि के लिए यह संसार "व्यथित-विश्व-आँगन" है। वह प्रश्न कर बैठता है—

"क्यों छलक रहा दुख मेरा,
ऊषा की मृदु पलकों में ?"
तथा—"जीवन में मृत्यु बसी है,
जैसे बिजली हो घन में।"

स्थल-स्थल पर प्रेम-उद्गार बड़ी मार्मिक शैली में व्यक्त किये गये हैं—

"विष-प्याली जो पीली थी,
वह मदिरा बनी नयन में।
सौन्दर्य पलक प्याले का,
अब प्रेम बना जीवन में।"

"आँसू" में निराशा के साथ-साथ सामञ्जस्य बुद्धि का भी समावेश हुआ है। कवि मानो किसी ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचा है जिसे वह ससार के सम्मुख रख देना चाहता है—

"मानव-जीवन वेदी पर
परिणय हो विरह मिलन का
दुख-सुख दोनों नाचेंगे
है खेल आँख का मन का।"

"आँसू" का कवि भाव-कल्पना से भरा हुआ है। उसमें

यह कल्पना जगत का पथिक है। इसमें कवि की विधायक शक्ति पूर्णरूपेण प्रदर्शित है। भविष्य की "कामायनी" के रचनाकार की उसमें झाँकी मिलती है।

× × × ×

"आँसू" से "कामायनी" तक आते-आते ऐसा प्रतीत होता है, मानों कवि ने अपना एक युग पूर्ण कर नवीन ससार में प्रवेश किया है। कामायनी समस्त हिन्दी संसार की अद्वितीय वस्तु है। उसमें प्रसादजी "महाकवि" के रूप में प्रकट हुए हैं। कामायनी मे जीवन का कोई विशेष अंग ही नहीं, वल्कि सम्पूर्ण जीवन है। ऐसा लगता है, मानों कवि प्रसाद जीवन भर किसी विशाल विषय की खोज मे रहे थे और जीवन की अन्तिम घड़ियों में ही वह खोज सफल हुई। मिल्टन और दाँते के काव्य की सी कामायनी की कथावस्तु है। वह विश्व-साहित्य की अनोखी चीज है। मृत्यु समय प्रसादजी ने जो अन्तिम भेंट हमें दी है, वह हिन्दी संसार की अमर सम्पत्ति है। हिन्दी उनकी चिर ऋणी है।

"कामायनी" की कथा-वस्तु पौराणिक है। वह पुरातन स्वर्ण-युग के समय की घटना को लेकर आगे चलती है। उसमें आदि पुरुष और आदि स्त्री के चरित्र अंकित हुए हैं। 'कामायनी' जीवन की फिलासफी का क्रमिक तथा स्वाभाविक विकास है। इसकी रचना मानवात्मा की एक शाश्वत पुकार को लेकर हुई है। उसमे जावन के प्रश्नों को बौद्धिक दृष्टि से

सुलझाया गया है। उसमें एक सहज रूपक द्वारा, कल्पना तथा कविता की सहायता से जीवन के चिरंतन सत्य की चिर-पुरातन झाँकी दी गई है। 'कामायनी' की कथावस्तु सार्वदेशिक एवं शाश्वत है वह निस्सीम है। वह प्रत्येक देश, जाति, काल, धर्म सभी से ऊपर है।

'कामयानी' में मनु और इला का चित्रण तो अपूर्व हुआ ही है, साथ ही, अनेकों स्थलों पर प्रथम कोटि के काव्योद्गार भी हैं। प्रारम्भ में ही जलप्लावन का दृश्य बड़ा सुन्दर है तथा चिन्ता का वर्णन भी बहुत प्रभावोत्पादक शैली में हुआ है। 'कामायनी' में स्वतन्त्र रूप से अनेकों गीत (lyrics) बिखरे पड़े हैं। काव्य की दृष्टि से, चरित्र-चित्रण की दृष्टि से, तथा अन्य सभी दृष्टियों से 'कामायनी' एक सफल रचना है।

"कामायनी" की रचना से ही कविवर प्रसादजी "महाकवि" के पद पर समासीन हो जाते हैं। हमारा पूर्ण विश्वास है कि यह कालान्तर में एक लोक-प्रिय रचना होगी। वास्तव में प्रसादजी की मृत्यु में हमने हिन्दी साहित्य का सच्चा निस्वार्थ सेवक खोया है। हम उनका कुछ भी सम्मान न कर सके। कवि रूप में वे एक युग निर्माता थे। उनकी मृत्यु के साथ हिन्दी-काव्य का एक युग चला गया है। साहित्य के एक अकिंचन् विद्यार्थी होने के नाते हम नतमस्तक हो उनके प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि प्रकट करते हैं।

प्रसादजी के नाटक
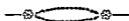
भारतेन्दु से लेकर प्रसादजी के हिन्दी गगन में आविर्भूत होने तक कई दशाब्दियाँ बीत जाती हैं। इस अवकाश में नाटक रचना की प्रगति इतनी अवहेलनीय नहीं रही। किन्तु 'प्रसाद' जी जो इस क्षेत्र में चमचमाते नक्षत्र की भाँति निकले, और उन्होंने जो कुछ लिखा इतना मौलिक था कि प्रेरणा के मूल रूप को छोड़कर और कुछ भी भारतेन्दु युग का अंश शेष उनमें नहीं रह गया। प्रेरणा का वह मूल-रूप भी सामयिक मनोवृत्ति का परिणाम है। भारतेन्दु के काल से ही भारत में अपनत्व की सोयी हुई चेतना उद्‌बुद्ध होने लगी थी। वह अपनी संपत्ति की परीक्षा करने और उसका हिसाब किताब देखने में संलग्न हुआ। मुसलमानी शासन के क्षोभ ने उसकी वीरता की भावना का तिरस्कार किया था। किसी कारण से क्यों न हो। इतने बड़े देश का कुछ आक्रमणकारियों के सामने घुटने टेक देना इस बात का प्रमाण था कि भारतीयों में वीरता का अभाव हो गया था। उनके दिग्विजयी इतिहास को सन्देह की दृष्टि से

देखा जाने लगा था। सब से पहिले उसी ओर दृष्टि जाना स्वाभाविक था। वीरता को जाग्रत करना चैतन्य का सब से पहला लक्ष्य था; इस काल के नाटक भारतीय वीरों के चरित्रों की रक्षा करने और उनके वीर-वैभव को बतलाने के लिये लिखे गये। इन नाटकों में पक्ष को प्रकट करने की इतनी प्रबलता मिली कि स्वाभाविक चित्रण कुछ कुण्ठित सा हो गया।

प्रसादजी में भारतीय गौरव प्रकट करने की प्रेरणा तो उतनी ही तीव्र है जितनी भारतेन्दु काल में, वरन उसमें भी कुछ अधिक तीव्र हो उठी है, किन्तु दृष्टि अब वीरता मात्र प्रदर्शित करना नहीं। आगे आगे जैसे समय बढ़ता गया भारत में एक और प्रकार-की मनोवृत्ति प्रबल होने लगी। वीरता के नाम से तलवार और रक्तपात का युग उतना आकर्षक न रह गया था—अंग्रेजी शासन के विस्तार ने नागरिकों में तलवार और रक्त का भय व्यक्ति के उतने निकट नहीं रहने दिया था जितना मध्यकाल में था। युद्ध के साधनों में राजपूती कौशल एक दम त्याज्य हो चुका था। पहले जहाँ तलवार साहस का चिन्ह थी, अब बन्दूक और संगीन—बम और तोप, गर्म काम में आने लगी थीं—और इसमें नग्न पिशाच देखकर स्वभाव का दार्शनिक भारतीय कभी उसे रुचिकर अथवा प्रशंसनीय नहीं समझ सकता था—फिर वह वीरता की ओर यदि बढ़ सकता था तो उसमें कुछ दार्शनिक मधुरता होने के कारण ही बढ़ सकता था। अब उसमें उसके लिए आवेग नहीं था। तो जैसा कहा, एक और

प्रकार की मनोवृत्ति प्रबल होने लगी थी। यह थी सभ्यता को ललकार। अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग अंग्रेजों को व्यवहार-शीलता के बाह्याडम्बर पर मुग्ध होकर, उनके भाव-प्रणाली से प्रभावित होकर भारतीय सभ्यता और उसके आदर्शों को हेय समझने लगे थे। यह भीषण आत्म-घात की तय्यारी थी। वह युग था जिसमें अँग्रेजी पढ चुकने वाला व्यक्ति अपने को अधिकारियों के वर्ग का समझकर अपनी उस कठोर सत्ता का पृथक अस्तित्व सिद्ध करने के लिए 'तुम' बोल सकते हुए भी 'टुम' कह कर अपनी ही मातृभाषा का अपमान करता दीखता था। ऐसे अवसर पर महाराणा प्रताप की वीरता का वर्णन या 'कृष्णार्जुन युद्ध' अथवा राजपूतों के साहस की कहानियाँ कोई अर्थ नहीं रख सकती थीं। इस काल में भारतीय गौरव से ठीक सामने खड़े होकर प्रश्न किया था। 'तुम्हारी सभ्यता क्या है' ?

और इस काल के कुछेक ऐतिहासिक इस सीधे और धृष्ट उत्तर को सुनकर मर्मपीड़ित हो भारतीय कंकाल की कड़ियाँ जोड़ने में लगे थे। प्रसादजी केवल कड़ियाँ जोड़ना नहीं चाहते थे। वे तो उनमें मन्त्र से प्राण फूंकना चाहते थे। जो कभी ऐसे लिख चुका हो।

'जगे हम लगे जगाने विश्व
लोक में फैला फिर आलोक'

उसे तो अपने दावे की रक्षा करने के लिए खड़ा होना

पड़ेगा—अब गौरव के प्रकाशन की बात नहीं, अब गौरव की मूल तीलियों को चमचमाने, उनके ठीक अर्थ को स्पष्ट करने की आवश्यकता थी—और उसकी तीलियाँ क्या महमूद गजनवी के बाद के भारत में रखी थी। महाराणा प्रताप और शिवाजी को स्पष्ट करने से वह कहाँ हाथ लगने को थीं। सम्राट् हर्ष की मृत्यु से तो भारत की मृत्यु हो गई थी। भारत का जो कुछ अपना था वह उससे पूर्व ही था और उसी को खड़ा करने की आवश्यकता थी।

प्रसादजी का सारा आख्यान इन्हीं पूर्व युगों से लिया गया है। 'करुणालय' गीति-नाट्य (Molo Drama) वैदिक घटना का रूपान्तर है, 'राज्यश्री' हर्ष काल की वस्तु है—हर्ष की अभिनन्दनीय भगिनी जिसने अपने दुर्भाग्य को देश के सौभाग्य में परिणत करने का इतना उद्योग किया कि चीनीमाली अपने संस्मरणों में उसे अमर कर गया है।

उनका 'जनमेजय' पुराणों की वस्तु है। अजातशत्रु बौद्ध काल के आरम्भ की, चन्द्रगुप्त मौर्य काल के आरम्भ की, स्कन्दगुप्त गुप्तकाल के अन्तिम समय की वस्तु है। नाटकीय द्वन्द की सामग्री सन्धि युगों में ही विशेष उपलब्ध होती है। और ऐसा नाटककार जो घटना और नियति को जीवन मे कम महत्त्व न देता हो, उसे तो अपनी सामग्री बटोरने के लिए हलचलपूर्ण सन्धि ही विशेष उपयुक्त प्रतीत हो सकती है। प्रसाद जी के अन्तर में यद्यपि एक कलाकी नवनीत मूर्ति झाँक रही है

किन्तु वह ऐसे ही है जैसे खण्डहर के ढूहों के पीछे उनव ऐतिहासिक वैभव—व्यंगमय और ध्वरकुट, उनकी तलवार औ रक्त-पिपासा के पीछे मानवीय और प्राकृतिक मधुरिमा चलत है। अतः उनके नाटकों के आख्यानों में सन्धियों का अनु सन्धान है। 'जनमेजय' पाण्डवों के विगत वैभव और नाग से संघर्ष की संधि में से चुना गया है। राज्यश्री गुप्तों के पतन और वर्द्धनों के उदय की सन्धि में से। स्कन्दगुप्त ने डिगमिगाते गुप्त साम्राज्य के अन्तिम दिनों की जर्जरित उद्दीप्त झाँकी है। चन्द्रगुप्त में नन्द और मौर्य की सन्धि का विलास है, और इसी प्रकार।

किन्तु इन सबमें कवि का एक महत् उद्देश्य इतिहासकार का सा छिपा हुआ है। वह मानो भारतीय सभ्यता के तन्तुओं को बटोर कर रखना चाहता है। नहीं वह इतिहासकार की भाँति सभ्यता के विकास का एक क्रम भी उपस्थित कर रहा है। करुणालय वैदिक वरुण की करुणा का रूप उपस्थित करने को प्रस्तुत हुआ है।

> यह जो रोहित को बलि देते तो नहीं
> वह बलि लेता; किन्तु मना करता इन्हें।
> क्योंकि अधम है क्रूर आसुरी यह क्रिया
> यह न आर्य पथ है, दुस्तर अपराध है
> वह प्रकाशमय देव, न देता दुःख है।

'तब राज्यश्री में चीनी सुएनच्वांग भारत से शिक्षा लेता है—

हर्ष०—(सब मणिरत्न दान करता हुआ अपना सर्वस्व उतार देता है (राज्यश्री से)—दो बहिन ! एक वस्त्र। राज्यश्री देती है।

हर्ष०—क्यों, मेरी इसी विभूति और प्रतिपत्ति के लिए हत्या की जा रही थी न ? मैं आज सब से अलग हो रहा हूँ—यदि कोई शत्रु मेरा प्राण दान चाहे, तो वह भी दे सकता हूँ।

"जय महाराजाधिराज हर्षवर्धन की जय।"

सुएन०—यह भारत का देव-दुर्लभ दृश्य देख कर सम्राट ! मुझे विश्वास हो गया कि यही अमिताभ की प्रसव-भूमि हो सकती है।

फिर नीति की व्याख्या सा ध्रुवस्वामिनी में मिहिर देव का कथन है—'राजनीति' ? राजनीति ही मनुष्य के लिये सब कुछ नहीं है। राजनीति के पीछे नीति से भी हाथ न धो बैठो; जिसका विश्व-मानव के साथ व्यापक सम्बन्ध है।

विश्व-मानव से विश्वात्मा का रूप जनमेजय में मिलता है। नागों और आर्यों के संघर्ष से उनके संपर्क की कल्पना—यज्ञों की अवाञ्छनीयता सिद्ध होती है और वेदव्यास कहते हैं—

'किन्तु जानते हो यह मानवता के साथ ही साथ धर्म का भी क्रम विकास है। यज्ञों का कार्य हो चुका। बालक सृष्टि खेल कर चुकी। अब परिवर्तन के लिये यह काण्ड उपस्थित

हुआ है। अब सृष्टि को धर्म कार्यों में विडम्बना की आवश्यकता नहीं।'''विश्वात्मा का उत्थान हो।

और आगे के नाटकों में कितनी जटिलता आ गयी—संघर्ष द्वन्द्व और उन सब मे 'ब्राह्मणत्व' के महत्व को यथार्थ प्रकाशित करने का भाव अग्रसर होता प्रतीत होता है।

ऐसी सामग्री और भावोदात्तता से प्रसादजी ने प्रत्येक नाटक में कवि-कर्म का उद्यापन किया है। उनकी सृष्टिमे कोमल कठोर और, कठोर कोमल होते देखे गये हैं। बहुत से केवल नियति के डोरे की कठपुतली बने बढ़े चले जाते हैं। चन्द्रगुप्त तक उन्हे किसी ब्राह्मण के दर्शन न हुए थे अतएव सभी नाटकों में स्त्रीत्व का प्रधानता थी। स्त्री मय कला उनके सामने नाचती थी। जीवन और उसका अर्थ यदि कहीं था तो राज्यश्री में, सुरमा मे, वासवी में, मल्लिका में, देव सेना में, ध्रुवस्वामिनी में—पुरुष तभी प्रबल हुए जब ब्राह्मण चाणक्य उन्हें मिला जिसने चन्द्रगुप्त को चन्द्रगुप्त बनाकर खड़ा कर दिया। वहीं प्रसादजी का नाटकत्व भी समाप्त होगया। स्त्रीत्व का पुरुषत्व में पर्यवसान!

प्रसाद जी के इन सभी नाटकों में एक विशेपता मिलती है—वह 'विदग्ध व्यग्रता' है। सभी पात्रों में एक उत्तेजना व्याप्त है, एक हलचल और व्याकुलता है— ठीक भीड़ से भरे बाजार में उनके पात्र बिना इधर उधर देखे हड़बड़ी में धक्का मुक्की से अपना मार्ग बनाते चलते-से और उस सबके लिए

अपना कारण और अपनी व्याख्या रखते से चलते हैं। इसीलिए उनमें दार्शनिकता भी है। कवि ने झूठ या सच इसी 'विदग्ध व्यग्रता' में अन्तर्द्वंद्व मानकर संभवतः सन्तोष किया है।

इन ऐतिहासिक नाटकों को छोड़ काल्पनिक नाटकों में 'कामना' सुप्रसिद्ध है। "कामना' वस्तुतः रूपक है—आभौतिक और आचारण के भावात्मक तत्त्वों को रूपक दिया गया है। कामना, विवेक, विनोद, लीला, विलास जैसे पात्रों की उसी प्रकार अवतारणा की गई है जिस प्रकार धर्म-युग में प्रबोध चन्द्रोदय में सत्य, बुद्धि, मोह आदि की इसका विषय का केन्द्र यही है कि 'विलास' एक अबोध वातावरण रहने वाले व्यक्तियों में जाकर महत्वाकांक्षिणी 'कामना' का साथ कर अनेकों नयी धारणाओं की सृष्टि करता है—शराब और सोना बनाता है, रानी और न्याय के आसनों की प्रतिष्ठा करता है—सभ्यता की बातों का धीरे धीरे प्रवेश करता है, और वैसे ही धीरे धीरे मानवता का ह्रास और पतन का आतंक बढ़ता जाता है। आधुनिक सभ्यता जिसमें 'पद' और 'सोना' पूज्य हैं यही मानव जीवन को एक दम कलुषित करने वाली है।

इस प्रकार 'प्रसाद' जी के नाटकों में एक अध्ययनाक्रान्त संस्कृत मना परिष्कृत सोद्देश्य प्रणाली दृष्टिगोचर होती है। कुल, जाति, मानव-भाव और विश्वात्मा की व्याख्या वहाँ है। क्षमा के अभूतपूर्व उदाहरण उपस्थित हैं—त्याग की दिव्य

आदर्शशील कल्पना उसमें प्रकाशित है। राज्य और राजकीय वैभव के चित्र तो हैं पर सभी विराग उत्पन्न करने वाले।

इस प्रकार प्रसादजी आख्यानों और प्रणालियों में उनका अपना व्यक्तित्व है। इसी प्रकार भाषा का दृष्टिकोण भी है। सभी पात्र एक सी भाषा बोलते हैं—ग्रीक, चीनी, शक, हूण, उत्तरी, पश्चिमी, दक्षिणी सब उनके रंगमंच पर आकर एक भाषा भाषी हो जाते हैं।

किन्तु उनके नाटकों में हिन्दी रंगमंच की कोई कल्पना नहीं। दृश्य मार्मिक, उनका निर्वाह मार्मिक, पात्रों का कथोपकथन अमूल्य उक्तियों और सूक्तियों से परिपूर्ण—उसमें हृदय स्पर्श करने के अद्भुत सामर्थन—यह सब कुछ हैं, पर वह कहीं नहीं जिससे रंगमंच का रूप बने। हिन्दी रंगमंच के मौलिक निर्माण का प्रश्न बना ही हुआ है—इसे प्रसाद जी भी नहीं कर पाये। वे तो वस्तुतः दूर ही रहे।

आज 'प्रसादजी' चाहे न रहे हो पर उनकी अमर कृतियों का भार अमर रहेगा।

कामना

—:※:—

प्रसाद जी के नाटकों में 'कामना' का वही स्थान है, जो 'आकाश-दीप' का उनकी कहानियों में। उनकी रचनाओं का विशेष गुण काव्यमय भाषा और सुकुमार कल्पना है। 'कामना' मे भावों और भाषा का अद्भुत-सामंजस्य है। सीधी भाषा लिखने में वे असमर्थ-से थे। यह बात उनके पहले उपन्यास 'कंकाल में काफी खटकती थी। 'तितली' में उनकी भाषा मे स्वाभाविकता और कथा-विकास में प्रौढ़ता थी। यदि वे जीवित रहते, तो शायद उनका अगला उपन्यास हिन्दी के लिए गर्व की वस्तु होता। उनके नाटको से कहानियों से उपन्यासों से, यह स्पष्ट झलकता था कि कोई कवि अपने जग से भटक कर विचित्र देश में जा पहुँचा है, किन्तु वहाँ भी अपनी प्रतिभा के कारण सम्मानित है। 'आकाश- दीप' में और 'कामना'. में उनकी कल्पना को अपनी रुचि के अनुकूल विषय मिल गए। यहाँ इतिहास का भी थोडा-सा पुट है, जिसके बिना वे असन्तुष्ट रहते थे।

'कामना' रूपक-बद्ध है। फूलों के द्वीप में तारा की संतान, युगों से बसती आई थी। वहाँ सुख, संतोष और शान्ति का राज्य था। किन्तु विशाल जलराशि के उस पार से आकर विलास ने यहाँ नई सभ्यता का प्रचार किया। सुवर्ण और मदिरा के प्रलोभन से उसने कामना, लीला और विनोद को अपना लिया। फिर उस फूलों के द्वीप में अनाचार और अत्याचार फैल गए, और वहाँ का जीवन नरक के समान हो गया।

विज्ञान की दृष्टि से यह विचार गलत हो सकता है। किन्तु कवि-कल्पना ने सदैव ही अतीत को सुवर्ण-रूप में देखा है। मनुष्य आदिम युग में सुखी था। सभ्यता ने उसकी शान्ति नष्ट कर दी। विकासवादी कहेंगे कि मनुष्य ने निरन्तर उत्तरोत्तर उन्नति की है।

तारा की सन्तान का इतिहास बड़ा सुन्दर है। "जब विलोड़ित जलराशि स्थिर होने ।पर यह द्वीप ऊपर आया, उसी समय वे शीतल तारिकाओं की किरणों की डोरी के सहारे नीचे उतारे गए।" खेल के लिए इन्हें फूलों के द्वीप भेजा गया है। खेल समाप्त कर थकी हुई तारा की सन्तान चन्द्रमा के शीतल पथ से वापस चली जाती है।

इस द्वीप में पुरातन का समाजवाद है। स्त्रियाँ कपास ओटतीं, सूत काततीं और जल भरती हैं। पुरुष खेत जोतते और अन्न उपजाते हैं। इसी से सार्वजनिक जीवन चलता है। इस भोली जाति में विलास ने सभ्यता, सुवर्ण और मदिरा लाकर खलबली मचा दी।

रूपक-बद्ध नाटकों में सफल चरित्र-चित्रण असम्भव-सा होता है। पात्रोंमें व्यक्तित्व के स्थान पर विचार-जाल रहता

है। फिर भी 'कामना' के पात्रों में अपना व्यक्तित्व और विशेषता प्रचुर मात्रा में है।

अभिनय की दृष्टि से शायद पात्रों की संख्या कुछ अधिक हो। नए अंक और दृश्यों में निरन्तर नए-नए पात्र लाए गए हैं। आदि से अन्त तक कुछ ही पात्र हमारे सामने रहे हैं। इनमें प्रमुख कामना, विलास, लीला, विनोद, लालसा, संतोष और विवेक हैं।

विलास का चित्रण सुन्दर हुआ है। उसके प्रति आकर्षण और मोह-सा होता है। स्वर्ण-पट्ट पहने समुद्र के पार से बाँसुरी बजाता हुआ यह सुन्दर युवक फूलों के द्वीप आया। क्या आश्चर्य, यदि कामना ने उसे आत्मसमर्पण कर दिया? एक-एक कर लीला, विनोद, लालसा उसके वश में हो जाते हैं।

बुड्ढा विवेक और सन्तोष—केवल यह दो उसके जादू से बचे। विवेक का चित्रण भी सफल हुआ है। विलास का खेल बिगाड़ने बार-बार वह पागल की भाँति ठीक मौके पर जा पहुँचता है।

प्रसाद जी के नाटकों का सबसे बड़ा आक- र्षण उनकी काव्य प्रेरणा है। आपके गीत बेहद मीठे और भावमय होते हैं। 'कामना' में भी अनेक गाने इस कोटि के हैं। सबसे सुन्दर गीत कामना का है।

"सघन वन-वल्लरियों के नीचे,
उषा और सन्ध्या-किरनों ने तार बीन के खींचे।

हरे हुए वे गान जिन्हें मैंने आँसू से सींचे।
स्फुट हो उठी मूक कविता फिर कितनों ने दृग मींचे।
स्मृति-सागर में पलक-चुलुक से बनता नहीं उलीचे।
मानस-तरी भरी करुना-जल होती ऊपर-नीचे।"

फूलों के द्वीप में प्रभात का वर्णन, जिससे नाटक का आरम्भ हुआ है, पढ़ने में तो मधुर है—

"ऊषा के अङ्क में जागरण की लाली है। दक्षिण-पवन शुभ्र मेघमाला का अंचल हटाने लगा। पृथ्वी के प्रांगण में प्रभात टहल रहा है। विशाल जलराशि के शीतल अंकसे लिपटकर आया हुआ पवन इस द्वीप के निवासियों को कोई दूसरा सन्देश नहीं, केवल शान्ति का निरन्तर संगीत सुनाया करता।"

किसी उच्चकोटि के अभिनेता से ही रंगभूमि में ऐसी भाषा अच्छी लगेगी।

नाटक सुखान्त है। इस देश में दुखान्त नाटक लिखे ही नहीं जाते थे। प्रसाद जी उसी लीक पर चले। विलास के अत्याचार से पीड़ित द्वीप-वासियों ने उसे निकाल बाहर किया। किन्तु क्या स्वर्ण और मदिरा का स्वाद वे एकदम भूल गये? क्या काल-चक्र को कोई उल्टा भी फेर सकता है?

"कामना" कवि के हृदय की व्यथित पुकार है। सभ्यता के जाल में दुखी वह जीवन की अतीत स्वतंत्रता और सादगी

के लिए विकल है। किन्तु जग के इस दुःस्वप्न से हम जाग नहीं सकते।

"कामना" में संगीत है, विचार-गम्भीरता है, सफल चरित्र चित्रण है। भाषा में माधुरी और कल्पना में कोमलता है। 'कामना' का स्थान प्रसाद-साहित्य में और भी ऊँचा होना चाहिये।

प्रसाद के गीत

संगीत संसार की दवा है। विश्व की वेदना के लिए, संसार के झंझटों के लिए, स्वयं जीवन की परिस्थितियों की भाग्य की, विडम्बना के लिए एक मात्र अचूक औषधि है गीत। गीत की तन्मयता में, उसकी काल्पनिक सुधा-माधुरी में, लय के उतार-चढ़ाव में, उस क्षणिक सुख की प्रत्यक्ष हुई सत्यता में मनुष्य का सारा राग-द्वेष, दुःख-दैन्य, उसकी असफलता, विकलता, विह्वलता बह जाती है। उस समय प्रत्यक्ष की कठोरता पर कल्पना का आवरण पड़ जाता है, उस राग धारा के प्रवाह में स्वयं दुःख अपनी कसक खोकर मधुमय हो जाता है। गीत में वह अलौकिक आह्लाद मिलता है जो सुख को सुखा-तिरेक में, दुःख को आनन्द में बदल देता है।

दुःख ही में गीत का उत्पत्ति है। यदि संसार सर्व-सुखी होता तो कविता की उत्पत्ति शायद ही होती। अपूर्णता, अभाव, वेदना और कविता शायद एक ही भाव की भिन्न स्थितियाँ हैं। वेदना-जात ये गीत भी इतने आनन्ददायी कैसे

होते हैं, इसी रहस्य में कविता का सौन्दर्य छिपा है। हमारे जीवन का ध्येय आनन्द है। उसकी प्राप्ति में जितना संतोष-सुख होता है उससे कहीं अधिक उसके अभाव से असंतोष-दुःख होता है। मनुष्य की महत्ता उसकी चेतना है, उसकी शक्ति चेतनता है, और जब दुःख से, वेदना से, अभाव से चेतना कोर तक उद्वेलित हो उठती है तभी जो चेतना में सर्वोत्तम है उसकी सृष्टि होती है। हम आनन्द का अनुभव उतनी गहराई से नहीं करते; वह चेतना की ऊपरी सतह को स्पन्दित करके ही रह जाता है, परन्तु पीड़ा की टीस अन्त तक पहुँच कर चेतनामय ही हो उठती है। फिर चेतना और पीड़ा में अन्तर नहीं रह जाता। इसीलिए हृदय की ग्रन्थियाँ दुःख में खुलती हैं।

प्रसाद की कविता में वेदना शायद मुख्य गुण नहीं है—इस अर्थ में तो वेदना महादेवी जी की कविता का ही विषय है; परन्तु प्रसाद में भी कविता का जन्म वेदना से ही होता है। अवश्य ही वह उसे छोड़कर बड़ी दूर, कल्पना-लोक के आनन्द में विहार करती है; उसमें यदि वास्तविक नहीं तो इन्द्रिय-जगत का काल्पनिक सुख है। उनकी कल्पना में सौन्दर्य, प्रेम और यौवन अपनी पूरी मस्ती में, अपने खिले रंग में चित्रित होते हैं। अभाव की वेदना पीछे रह जाती है। क्षण भर को तो लेखक और पाठक उस सुख का अनुभव करने लगता है जो उन्हीं के शब्दों में, "अतीन्द्रिय जगत की नक्षत्र मालिनी निशा को प्रकाशित करने वाले शरच्चन्द्र की कल्पना करता हुआ भावना

की सीमा को लांघ जाय।" भावना की सीमा जहाँ पीछे रह जाय ऐसे मधुर लोक की निराश खोज के पीछे केवल कल्पना का सहारा है—"शून्य गगन में खोजता जैसे चन्द्र निराश," परन्तु कवि के कल्पना-गगन में यह शून्यता, रस-हीनता नहीं है। उस काल्पनिक लोक में एक अनुभूत मादकता है, उल्लास है, वैभव है। वहीं पर अनन्त प्रेम है, यौवन है, सौन्दर्य है। कैसा अनुभूति-सुख है इस कल्पना में—

"तुम कनक किरण के अन्तराल में,
लुक छिप कर चलते हो क्यों ?
नत मस्तक गर्व वहन करते
यौवन के घन, रस कन ढरते।
हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो,
मौन हुए रहते हो क्यों?"

यौवन के उन्माद का, उसके असयत रस-प्रवाह का एक और भी मानस-चित्र है—

"आज इस यौवन के माधवी-कुञ्ज में कोकिल बोल रहा
मधु पीकर पागल हुआ करता प्रेमालाप
शिथिल हुआ जाता हृदय जैसे अपने आप
लाज के बन्धन खोल रहा।"

परन्तु यह जीवन-मधु पृथ्वी पर नहीं मिलता। असफल प्रेम अतृप्त यौवन और अप्राप्त सौन्दर्य—इस अभाव स खिन्न होकर भी कवि की उत्कट इच्छा होती है—

"सुधा सीकर से बहला दो
लहरें डूब रही हों रस में,
रह न जायें वे अपने बस में,
रूप-राशि इस व्यथित हृदय-सागर को बहला दो।"

प्रसाद का गीत संसार प्रकृति के उस पार और नियति की दासता से बहुत दूर एक अलग ही चणिक उल्लास है। बच्चन में संसार की अवहेलना ही तन्मयता बन जाती है; महादेवी में अपने को उस दुःख की ज्वाला में झुलसाने की ही लगन है; प्रसाद में कल्पना का वह प्रभुत्व है कि वे बार-बार उसके परों पर अपना सारा स्थावर जड़ भार तोल कर एक नई दुनिया में, सुनहले संसार में जा पहुँचते हैं। पृथ्वी का ठोस आकर्षण मनुष्य का नियति-कृत दुःख-भार, उसकी जन्म-जात बर्बरता से उठी हुई कलुषता का सारा खिंचाव उन्हें बार-बार नीचे की ओर, अत्यन्त की ओर, कठोर सत्य की सतह पर ला पछाड़ता है, परन्तु उतनी ही बार मानवता का स्वर्गीय अंश, कवि की कल्पना के थिरकते हुए पंख उन्हे उस पार, उस ओर उस ऊँचे संसार में ले जाते हैं। उनकी गगन विहारिणी कल्पना शक्ति में वह हलकापन, उड़नापन है जो मनुष्य की पाशविकता को यहीं छोड़ कर केवल उसके हृदय की सुकोमल भावना को ही अपने साथ ऊपर उठा पाता है। प्रसाद के गीत कल्पना-यान पर विचरते हुए छाया चित्र हैं।

प्रसाद के गीत विशेष कर उनके नाटकों में मिलते हैं। वहाँ

भी उनकी स्थानीय उपयुक्तता ही उनका एकमात्र पार्थिव अंश है, जो उन्हें भावों के घात-प्रतिघात के रंगमंच से सटाए रखता है, जो उन्हें पात्र-विशेष की प्रकृति के बन्धन में बाँध देता है, जहाँ उन्हें नाटकीय परिस्थिति की परवशता में रहना पड़ता है। परन्तु इन दुर्दमनीय ग्रहों की उपशान्ति के साथ ही कवि की कल्पना खींच कर, तान कर, रोक कर फिर छोड़े गए तीर की भाँति ऊपर को उठती है। जितना उसके पार्थिव-सम्बन्ध में जोर था उतनी ही प्रतिक्रियात्मक तीव्रता और अदृश्यता से उनकी कल्पना किसी एक अपार्थिव लोक में पहुँचती है। उनकी प्रतिभा का यह नियति का-सा अटल स्वरूप है। उनके किसी नाटक में से किसी संदर्भ से सम्बन्ध रखते हुए गीत को देखो : विरहिणी का अतृप्त प्रेम, पगली का मस्त प्रलाप, नर्तकी का व्यावसायिक गान, मातृभूमि का प्यार, भावावेश का उद्गार, हारे हुए की निराशा—सब का आदि भिन्न-भिन्न है, परन्तु सबकी इति उसी क्षेत्र में पहुँच कर होती है, जहाँ मानव की *शुद्धता देवोपरि है, जहाँ उसका अधिकार अनियन्त्रित है, जहाँ* उसकी गति स्वच्छन्द है, जहाँ सुख ही अनुभव का पर्यायवाची है और स्वाधीनता ही जीवन का अर्थ है, जहाँ प्रकृति की रम्यता के पीछे अगम्यता नहीं है, जहाँ की नियति मनुष्य की शत्रु या विरोधक न होकर अनुगामिनी है। उसमें शेली (Shelley) का व्योम-विहार है, कीट्स (Keats) का-सा करुण विद्रोह है, साथ ही उमर खय्याम का-सा नियति से असन्तोष है।

कोरी कल्पना से ही वह मादकता उत्पन्न नहीं हो सकती जो प्रसाद के गीतों में भरी रहतीहै। अनुभूति, कल्पना-लोक में प्रकृति-सौन्दर्य की व्यापकता लेकर देश, काल, पात्र की सीमित परिधि को प्रकृति की, विश्व-व्यापकता में परिणत करके भी, हमारे अनुभव से परे थी, नहीं बन जाती। कीट्स की कविता में एक प्रकार का इन्द्रिय-सुख-स्पर्श करता-सा मालूम देता है। उसकी कल्पना ग्रीक और लैटिन रोमान्स की दुनिया में पहुँचकर भी मानो उसकी अतृप्त अनुभूतियों का भार साथ लिए रहती है। उसी प्रकार प्रसाद की कल्पना में भी इन्द्रिय सुख का स्पन्दन वर्तमान रहता है, फर्क इतना ही है कि वह कीट्स की भाँति दैहिक न होकर कल्पनात्मक है (Sensuousness of Imagination)। जब मालविका (चन्द्रगुप्त) वास्तविक जगत में प्रेम का अवलम्ब नहीं पाती। जब चन्द्रगुप्त का सशरीर उसके पास रहना भी अभाव रूप में ही रहता है, तब उसकी वेदना चन्द्रगुप्त की शय्या मात्र का सहारा लेकर, वह भी अन्तिम क्षणों की विभूति—ऐसे सुख का सृजन करती है जो सिर्फ कल्पना पर टिका हुआ है परन्तु भावोद्वेग के कारण वह असम्भव नहीं प्रतीत होता। शय्या का स्पर्श उसकी इन्द्रियों को नहीं स्वयं उसकी चेतना को ही स्पन्दित कर देता है—

"ओ मेरी जीवन की स्मृति !
ओ अन्तर के आतुर अनुराग

वैठ गुलाबी विजन उषा में,
गाते कौन मनोहर राग।"

अनुराग उषालोक में जा विराजना है और फिर पृथ्वी से उसके सौन्दर्य का पान करती हुई मालविका का—

"चेतन सागर उर्मिल होता,
यह कैसी कम्पन मय तान।
यों अधीरता से न मींज,
लो अभी हुए हैं पुलिकत प्रान।"

अभाव की वेदना हमें गला देती है। इस क्षणिक काल्पनिक सुख का स्पन्दन इन्द्रियों को शिथिल करके प्राणों को विभोर कर देता है। इस मादकता का रंग ज्यों-ज्यों गहरा पड़ता है त्यों-त्यों उत्सर्ग के लिये उत्सुक मालविका के प्राण अपनी नस-नस में चन्द्रगुप्त की स्मृति, उसके शरीर से छुई हुई उस शय्या की मूर्छना उसे ऊपर, बहुत ऊपर कहीं लिए चली जा रही है—इन्द्रिय-जगत पीछे पड़ता जा रहा है—

"कहाँ ले चले कोलाहल से,
मुखरित तट को छोड़ सुदूर।
आह! तुम्हारे निर्दय डाँड़ों से
होती है लहरें चूर।"

स्पर्श सुख, स्मृति का अनुराग, समय और स्थल का अस्तित्व मानो एक ही भाव मे डूब कर नीरव, निश्चल और अनन्त प्रकृति के अनादि तत्वों में मिल जाता है। इसीलिए प्रसाद

के गीतों की अन्तिम दो पंक्तियाँ प्रायः प्रकृति में 'भव, विभव, पराभव' की शाश्वत क्रियाओं में गीत का सार मिला देती हैं। मालविका के अनुभव की सीमा क्षितिज ही बन जाता है, देवसेना (स्कन्दगुप्त) अपनी सूनी वेदना को हृदय की करुणा के आवरण में और अधिक देर नहीं छिपा सकती—

"लौटा लो अपनी यह थाती
मेरी करुणा हा हा खाती।
विश्व न संभलेगी यह मुझसे
इसने मन की लाज गँवाई।"

जिस नियति के अन्धचक्र से वेदना और असफलता का भार मानव पर पड़ा था वह अब मानव-शक्ति के बंधन से छूट कर प्रकृति में ही लुप्त होकर एकाकार हो जाता है। इसीलिए कल्पना की उड़ान के पश्चात्, अनुभूति की तीव्रता के उपरान्त प्रकृति की क्रियाओं में मानव की पूर्णतया एक-प्राणता दिखाने के पश्चात् भी प्रसाद मानों किसी एक लक्ष्य पर नहीं पहुँच पाते। महादेवी को उसी अभाव और वेदना में कुछ चीज हाथ आ जाती है, पर प्रसाद के लिए उतना ऊपर उठ कर भाव की सीमा में भी रहना असम्भव है। वहाँ तो फिर अनन्तशून्यता ही है, वहाँ बुद्धि अगम्य है कल्पना निष्प्राण है—

"क्षणिक वेदना अनन्त सुख बस
समझ लिया शून्य में बसेरा।

पवन पकड़ कर पता बताने
न लौट आया न जाय कोई।"

गीत के अन्त में प्रायः यही अस्पष्टता बनी रहती है।

इस प्रकार की कल्पना प्रसादजी की काव्य-प्रतिमा की विशेषता है, परन्तु गीत में इसके अतिरिक्त भी सौन्दर्य और मधुरता सृजन करने का साधन होता है—वह है गीत की गठन। भावोल्लास शब्दों की मधुरता, ध्वनि को सुकुमारता, भाव की स्निग्धता और नूतनता उसकी सिहरन आदि भी उतने ही आवश्यक अंग हैं जितनी कल्पना। भावोल्लास की गीत में विशेष आवश्यकता होती है। जब हृदय किसी विशेष भाव से आच्छन्न होता है तब उस भाव का सम्पूर्ण अंश बातचीत और क्रिया के द्वारा व्यक्त नहीं हो पाता। बातचीत और क्रिया नाटक की सामग्री है और जो उसके द्वारा पूर्णतया व्यक्त नहीं होता वह गीत की। जो साधारणतः नहीं देख पड़ता, अदर्शनीय और अन्य के अनुमान में भी आने वाला नहीं है, अर्थात् जो भावयुक्त मनुष्य के हृदय में उच्छ्वसित है उसी को व्यक्त करना गीत का काम है। प्रसाद के गीतों की यह दूसरी महान विशेषता है। नाटकों में होने के कारण गीतों का पात्रों से अटूट सम्बन्ध रहता ही है, गीत का सौन्दर्य चरित्र के चित्रपट पर और भी अधिक प्रभावोत्पादक हो उठता है। गीत के प्रधान गुण भवोच्छ्वास को पूर्णता देने में प्रसाद 'सूर' से अधिक दूर नहीं। पद्मावती (अजातशत्रु) उदयन के तिरस्कार से दुःखी

होकर जब वीणा भी नहीं बजा सकती तब गाने लगती है।—

"मींड मत खिंचे बीन के तार।"

भाव की ग्रन्थि जितनी कोमलता से खोली है, पीड़ा की कसक जितनी तीव्रता से और असमर्थता का दुःख जितनी करुणा से प्रकट किया है वह अद्वितीय है—

"निर्दय अंगुली! अरी ठहर जा
पल भर अनुकम्पा से भर जा
यह मूर्छित मूर्छना आह-सी
निकलेगी निस्सार।"

यहाँ तक कि अन्त तक पहुँचते-पहुँचते पीड़ा अपनी सीमा तक पहुँचकर और ही रूप धारण कर लेती है—

"नृत्य करेगी नग्न विकलता
परदे के उस पार।"

देवसेना जिसका प्रेम-जीवन गीत में ही अनुप्राणित हो सका, जब नाटक के अन्त में अपने निष्फल जीवन पर एक दृष्टि डालती है, जब भविष्य की आशा का त्याग करती है तो इन शब्दों में—"हृदय की कोमल कल्पना! सो जा! जीवन में जिसकी सम्भावना नहीं, जिसे द्वार पर आए हुए लौटा दिया था···आज जीवन के भावी सुख, आशा और आकांक्षा—सब से मैं विदा लेती हूँ—" में ही उसके अच्छ्वास का अन्त नहीं हो सकता है। वह तो अथाह है डुबाएगा ही, अनन्त है, बहेगा ही। और देवसेना गाने लगती है—

आह वेदना मिली विदाई
मैंने भ्रमवश जीवन संचित,
मधुकरियों की भीख लुटाई।
छल-छल थे सन्ध्या के श्रमकण
आँसू से गिरते थे प्रति-क्षण
मेरी यात्रा पर लेती थी, नीरवता अनन्त अगड़ाई।
श्रमित स्वप्न भी मधु माया में,
गहन विपिन की तम छाया में।
पथिक उनींदी श्रुति किसने, यह विहाग की तान उठाई।
चढ़कर मेरे जीवन-रथ पर,
प्रलय चल रहा अपने पथ पर।
मैंने निज दुर्बल पद बल पर, उससे हारी होड लगाई।
लौटा लो अपनी यह थाती
मेरी करुणा हा हा खाती
विश्व न संभलेगी यह मुझसे, इसने मन की लाज गँवाई।"

एक के बाद दूसरी पंक्ति देवसेना की असफल प्रेम की हूक को, अपने जीवन की असार्थकता को, जगत से बचा बचा कर प्रेम के कोमल किसलय को पालने की थकान प्रकट करती है। मानों जीवन शक्ति अब बुझती जा रही हैं ठण्डी पडती जा रही है। यहाँ तक कि अन्त में देवसेना अपने भावों का विश्व में समर्पण कर देती है। एक ही भाव की तन्मयता में प्रसाद के पात्र, समय, स्थल गीत और पाठक सभी डूब जाते हैं, डूबकर मिल जाते हैं।

अनुभूति की तन्मयता में मालूम होता है कला-स्वरूप भिन्न नहीं रह जाता। चित्रकार कवि बन जाता है कवि चित्रकार, चित्रों में संगीत बह निकलता है। कल्पना सङ्गीतपूर्ण हो उठती है, शब्द ही तूलिका बन जाते हैं, उनमें ध्वनि फूटी पड़ती है, रङ्ग गाने लगता है। यही कला का अन्तिम स्वरूप है जहाँ सौन्दर्य अंगों मे नहीं सशरीर आ विराजता है। मधुरिमा उसका गुण नहीं कलेवर बन जाती है। प्रसादजी की कला का भी यही रूप उनके गीतों में मिलता है। पाठक भूल जाता है—वह कविता पढ़ रहा है या चित्र देख रहा है अथवा सगीत के सम पर ही खड़ा है। उनके गीतों के सम पर 'विश्व सिर हिला देता है', उनके चित्रों के सौन्दर्य पर दृष्टि अचल हो जाती है, उनके काव्य के भाव में मन विभोर हो जाता है। पार्थिवता दूर, बहुत पीछे रह जाती है। कवि पाठक को एक ही उड़ान में अपने लोक में ले जाता है जहाँ कलाएँ मूक होकर एक दूसरे का आलिगन करती हैं। प्रसाद की यह जीत है। इसी जीत मे उनकी महानता है। सुवासिनी—संगीत, सौन्दर्य प्रेम की मूर्ति सुवासिनी—गाने लगती है—

"तुम कनक किरण के अन्तराल में,
लुक-छिप कर चलते हो क्यों।"

यदि चित्रकार इस पर तूलिका उठाए तो कैसे चित्र की कल्पना करेगा ? एक तो किरण यों ही सुनहली तिस पर 'कनक किरण', किरण वैसे ही शून्य में भरी रहती है उसके हल्केपन

"बीती विभावरी जाग री
अम्बर पनघट में डुबो रही
तारा घट उषा नागरी।"

वे डूबते हुए तारे, वह उषा का हल्की-सी लालिमा लिए हुए पवित्र उज्वल रूप जो अनन्त नील गगन के किनारे सिमट-सा खड़ा दीखता है, *मानो प्रकृति पनिहारिन, पनघट और घट रूप* में सीमित हो गई है। प्रसादजी की यह विशेषता है कि वे प्रकृति की क्रियाओं को मानवीय रूप द्वारा और मानवीय भाव तथा क्रियाओं को कृति-रूप द्वारा प्रकट करके पार्थिव और *अपार्थिव दोनों लोकों का सौन्दर्य सजग कर देते हैं।* *मालविका* का अपना अनुराग अन्तिम चरणों में ही सुहावना प्रतीत हुआ और तभी वह उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो गई। प्रेम इतना सुन्दर! इतना मधुर! उसका मालविका उतना ही सुन्दर कोमल, स्निग्ध, और पवित्र चित्र आँखों में उतारती है।

"ओ मेरी जीवन की स्मृति!
ओ अनन्त के आतुर अनुराग

बैठ गुलाबी विजन उषा में
गाते कौन मनोहर राग।"

'अ' की आवृति से संगीत पैदा होता है पर यहाँ तो 'अनुराग' उषा की गुलाबी झलक में स्वयं ही गाने लगता है। प्रसाद कलाकार हैं, वे जानते हैं अनुराग का रंग वैसे भी लाल ही बताया गया है, परन्तु मालविका का अनुराग—वह क्या वैसा रक्तवर्ण लाल था? चन्द्रगुप्त के लिए वह असम्पुट प्रेम क्या इतना उद्दाम था? कहाँ वह तो अपनी कोमलता से ही उठ नहीं पाता था: इसीलिए वह लाल न होकर गुलाबी था, प्रखर सूर्य के समान जलता न होकर उषा की हल्की गुलाबी झलक में गाता था। मालविका के प्राण—उत्सर्ग के कगारे बैठे हुए प्राण—अनुराग बनकर उषा की प्रशान्त गुलाबी झलक में गाते-गाते विभोर हो जाते हैं। इस सौन्दर्य का माप-तोल असम्भव है जहाँ चित्र, काव्य, संगीत एक दूसरे को पहचान नहीं पाते।

गीतों की नाटकीय उपयोगिता; समय, स्थल, पात्र और विषय के अनुसार उनकी उपयुक्तता भी उनकी कला के अङ्ग हैं। जब ग्रीस राजकुमारी कार्नेलिया भारतभूमि के वैभव और ज्ञान से आश्चर्यान्वित होकर, पुलकित होकरउसकी प्रशंसा करती है (समय) जब वाणी द्वारा असमर्थ होकर वह वन्दना-स्वरूप गाने लगती है (स्थल) उदार-हृदया कार्नेलिया ग्रीस की होने पर भी भारत के महत्व गुण-गान में हिचकती नहीं (पात्र) तो

प्रसाद भी अपनी कल्पना के सहारे देश-प्रेम की सुन्दरतम भावना (विषय) को कार्नेलिया के मुख से प्रकट करवाते हैं—

"अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ विभा पर नाच रही तरु-शिखामनोहर,
छिटका जीवन हरियाली पर मंगल कुंकुम सारा।
लघु सुरधनु से पंख पसारे शीतल मलय समीर सहारे,
उड़ते खग जिस ओर मुँह, किये समझ नीड़ निज धारा।
बरसाती आँखों के बादल बनते जहाँ भरे करुणा जल,
लहरें टकरातीं अनन्त की पाकर जहाँ किनारा।"

उस समय के भारतवर्ष का कितना सौम्य प्रशान्त स्निग्ध चित्र है जब भारतस ब के आश्रय का नीड़ था। जहाँ आकर विजयी सिकन्दर भी उसकी उदारता पर मुग्ध हो गया था, जहाँ कार्नेलिया—कवि-हृदय की विभूति—भी वहीं पहुँच गई जहाँ के लिए वह चली थी। वह प्रकृति का भी आश्रय स्थल था। देश-प्रेम की कैसी उदात्त भावना है! नाटकीय उपयोगिता की सार्थकता सम्पूर्ण दी जाती है।

× × × ×

कला! तुम अनन्त सौंदर्यशालिनी हो, हमारी पूजा की सामग्री परिमित! वह निबट चली, भाव का उद्वेग शान्त हो चला परन्तु उपासना अभी अधूरी ही है।

प्रसादजी के उपन्यास

जयशंकरप्रसाद के दो उपन्यास हैं—(१) कंकाल (२) तितली। एक अन्य ऐतिहासिक उपन्यास वे और लिख रहे थे— इरावती। इसका कथानक बौद्धकालीन है। इसे वे कामायनी महाकाव्य के बाद पूरा करना चाहते थे। लेकिन इसी अर्से में बीमार पड़ गए और यह बीमारी ऐसी लगी कि उन्हें लेकर ही मानी।

मुझे डर है हम प्रसाद-साहित्य को देश, काल और समाज के अन्दर छोटा करके देखने से उसका महत्त्व ठीक-ठीक नहीं आँक सकेंगे। उन्होंने अपनी रचनाओं में विश्व-मानव की प्रतिष्ठा की है। वह अपनी रचनाओं में समस्त मानव-हृदय का स्पन्दन अंकित करते हैं। यह बात बहुत मनोरञ्जक है कि प्रसाद अपने जीवन में और साहित्य में वर्त्तमान से कितना तटस्थ रहे। लेकिन इससे यह न समझा जाय कि उनमें कर्मण्यता का अभाव था। उनमें वर्त्तमान को सुधारने-सँवारने और संस्कार देने की बेहद कामना थी। अपनी इन भावनाओं

को उन्होंने अपने उपन्यासों में प्रकाश दिया है। इन उपन्यासों के जरिये वे वर्त्तमान से उलझे हैं, इसीलिए इस क्षेत्र में य. रियलिस्ट हो गए हैं।

प्रसाद का रियलिज्म पश्चिमी लेखकों के रियलिज्म से सर्वथा भिन्न है। उनके रियलिज्म की परिभाषा बहुत कुछ प्रेमचंद के रियलिज्म के करीब है। प्रसाद 'कंकाल' और 'तितली' के जरिये वर्त्तमान से उलझे हैं, लेकिन उन्होंने अपने को एक दम वर्त्तमान में मिला नहीं दिया। उनकी दृष्टि तब भी अनन्त की ओर ही है, क्षण भर के लिए पलकें झुका कर पैरों की तरफ देख लिया है। कंकाल में भारत-संघ की योजना है। यह भारत-संघ एक नवीन हिन्दू-जाति का संगठन करने वाला है, जिसका आदर्श प्राचीन है अर्थात् राम, कृष्ण, बुद्ध की आर्य-संस्कृति का प्रचार करना। भारत-संघ श्रेणीवाद, धार्मिक पवित्रतावाद तथा जातिवाद की उपेक्षा करता है, और मानवता के नाम पर सबों को गले लगाता है। हिन्दुओं का समाज-शासन कठोर हो चला है, क्योंकि दुर्बल स्त्रियों पर ही शक्ति का उपयोग करने की क्षमता उसके पास बच रही है और यह अत्याचार प्रत्येक काल और देश के मनुष्यों ने किया है; स्त्रियों की नैसर्गिक कोमल प्रकृति और उनकी रचना इसका कारण है। भारत-संघ ऋषिवाणी को दुहराता है 'यत्र नार्य्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता.' और कहता है माता की जाति का आदर करो।

तितली में स्पष्ट-रूप किसी संस्था का निर्माण नहीं है, लेकिन उसके तीनों प्रमुख पात्र—तितली, मधुबन और शैला–बाबा रामनाथ की संस्था की उपज हैं। जमींदार इन्द्रदेव की सहायता से यह लोग ग्राम-संगठन में प्रयत्नशील हैं। इनकी योजना के अनुसार सबसे पहले गाँवों में किसानों का एक बैंक और एक होमियोपैथी का निःशुल्क औषधालय खुलना चाहिए। एक प्रगतिशील पाठशाला भी होनी चाहिए। तीसरे दिन जहाँ गाँव का बाजार लगता है, वहीं एक अच्छा-सा देहाती बाजार हो, जिसमें करघे, कपड़े, बिसातीखाना और आवश्यक चीजें मिल सकें। गृह-शिल्प को भी प्रोत्साहन देने का प्रयत्न किया जाय। किसानों के खेतों के छोटे-छोटे टुकड़े बदल कर उनका एक जगह चक बना दिया जाय जिसमें खेती की सुविधा हो। अन्त में जब धामपुर ग्राम एक कृषि-प्रदर्शिनी बन जाता है तो उसका चित्र इस प्रकार है—

साफ-सुथरी सड़कें, नालों पर पुल, करघों की बहुतायत, फूलों के खेत, तरकारियों की पौध, अच्छे-अच्छे फलों के बाग। दो रात्रि पाठशालाएँ भी खुल गईं थीं। कृषकों के लिए कथा के द्वारा शिक्षा का प्रबन्ध हो रहा था। अखाड़े और संगीत-मण्डलियों का भी प्रचार हो रहा था। युवकों में स्वयं-सेवा की भावनाएँ जाग्रत की जा रही थी।

कंकाल सं० १६८६ में प्रकाशित हुआ था। तितली का कुछ अंश १६८६ में लिखा गया। उस समय विनोदशङ्कर

व्यास की अध्यक्षता में पाक्षिक जागरण निकल रहा था। उसी में पहले-पहल तितली धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुई। जागरण बन्द होने के साथ ही तितली भी अधूरी रह गई और फिर स० १९९१ में प्रकाशित हो सकी।

सामुद्रिक ज्वार भाटे की भाँति समाज और देश के इतिहास में भी उत्थान पतन की लहरें उठा करती हैं। उत्थान के समय सामाजिक नियमों, सदाचारों और आदर्शों की सृष्टि होती है। और इस तरह उस समाज के समस्त सदस्यों का व्यक्तित्व और उनकी प्रतिभा विभिन्न मार्गों का अवलम्ब करके एक धारा विशेष में प्रवाहित होने लगती है। दीपक अपनी बत्ती के जरिये अपने भीतर सम्पूर्ण तेल खींच कर अपने प्रकाश की लौ एक दिशा विशेष में अभिमुख करता है। इसी तरह विभिन्न समाज अपने व्यक्तियों की प्रतिभा को सामाजिक नियमों, आचरणों और आदर्शों के जरिये एक राह में खींच कर अपने भीतर एक सतत् लौ प्रतिष्ठित करते हैं, दीपक के लौ की भाँति यह लौ भी अनन्त के चरणों में उत्सर्ग।

समय आता है जब यह लौ क्षीण होते होते काँपने लगती है। सामाजिक कड़ियाँ बिखर जाती हैं और समाज के विभिन्न व्यक्तियों की विभिन्न चेष्टाएँ, विभिन्न धाराओं में प्रवाहित होने लगती हैं। ऐसे समय नए सिलसिले से समाज का निर्माण करके, उसमें दुबारा तेल भरके, फिर से बत्ती जलाने की जरूरत पड़ती है। जिन लोगों को दिशा भ्रम हो गया है उन्हें

दुत्कारने से काम न चलेगा, बल्कि उनके सहयोग से एक नए प्लेटफार्म का निर्माण करना चाहिये। संक्षेप में ऐसी ही भावनाओं से प्रेरित होकर प्रसाद ने कंकाल और तितली की रचना की है।

कंकाल में हमारा ध्यान समाज के उस अङ्ग की ओर आकृष्ट किया जाता है जो एक बार फिसल जाने के कारण सदा के लिए उपेक्षित हो जाता है। हम उन्हें पतित समझ कर उनकी ओर से अपनी आँखें हटा लेते हैं। धनाढ्या किशोरी जारज पुत्र की जननी है। तारा विधवा रामा की जारज सन्तान है। भीड़ में पिता से विलग होने पर पहले वेश्या के चंगुल में पड़ती है, फिर उद्धार होने के पश्चात्, एक पुत्र को जन्म देने के बाद, किशोरी के यहाँ परिचारिका के रूप में रहने लगती है। घंटी, वृन्दावन की कुख्यात बाल-विधवा है। गाला हत्या-व्यवसायी बदन-गूजर की लड़की है। उसका नसों में शाही खून है। पुरुष-सम्प्रदाय में श्रीचद व्यवसायी-हृदय है। समाज में मान-प्रतिष्ठा कायम रखने के लिए पत्नी किशोरी को अलग रखने की व्यवस्था करता है। दोनों स्त्री-पुरुष की तरह रहने लगते हैं। तारा के गर्भ रह जाता है। यह सुनकर मंगल विवाह के ऐन मौके, तारा को छोड़कर भाग जाता है। देवनिरञ्जन बाल्यावस्था में एक मनौती के अनुसार साधुओं को अर्पण कर दिया गया। वह एक तरफ किशोरी के साथ गृहस्थ बनता है, दूसरी तरफ साधु होने का ढोंग रचता है। विजय

उसका पुत्र है। उच्छृंखल जवानी के आवेश में पहले तारा की तरफ आकृष्ट होता है, फिर घंटी की तरफ, फिर गाला की तरफ।

जयशंकर प्रसाद हमारी मानव भावनाएँ प्रतिष्ठित करके हमें इनके प्रति आकृष्ट करते हैं और हमारी सहानुभूति जगाते हैं; हम सोच करने लगते हैं यह तो हमारे ही भाई-बन्धु हैं, उनकी दुर्बलता हमारी दुर्बलता है।

× × × ×

उत्तम पात्रों के हृदय की दुर्बलताओं और शुभकामनाओं को लेकर ही कंकाल की विचित्र घटनाएँ घटित हुई हैं। उपन्यास के अंत में भारतसंघ की स्थापना होती है। इसी सिलसिले में कई जगह कितने अनमोल वाक्य आए हैं—जिन्हें मन चाहता है हृदय-पटल पर अंकित कर लें। स्थानाभाव के कारण दो ही एक उदाहरण दूँगा। यथा—

यह झूठ है कि किसी विशेष समाज में स्त्रियों को विशेष सुविधा है। पुरुष यह नहीं जानते कि स्नेहमयी रमणी सुविधा नहीं चाहती, हृदय चाहती है।

× × × ×

स्त्रियों का एक धर्म है, वह है आघात सहने की क्षमता। स्त्री जिससे प्रेम करती है उसी पर सरबस वार देने को प्रस्तुत हो जाती है; यदि वह भी उसका प्रेमी हो।

× × × ×

स्त्री वय के हिसाब से सदैव शिशु, कर्म्म में वयस्क और अपनी असहायता में निरीह है।

× × × ×

तितली में ग्रामीण जीवन की समस्या है, साथ ही कौटुम्बिक जीवन पर भी प्रकाश डाला गया है। प्रसाद के शब्दों में—मुझे धीरे-धीरे विश्वास हो चला है कि भारतीय सम्मिलित कुटुम्ब की योजना की कड़ियाँ चूर-चूर हो रही हैं। वह आर्थिक संगठन अब नहीं रहा, जिसमें कुल का एक प्रमुख सबके मस्तिष्क का सञ्चालन करता हुआ रुचि की समता का भार ठीक रखता था। मैंने जो अध्ययन किया है, उसके बल पर इतना तो कह ही सकता हूँ कि हिन्दू-समाज की बहुत-सी दुर्बलताएँ इस खिचड़ी कानून के कारण हैं। क्या इनका पुनर्निर्माण नहीं हो सकता। प्रत्येक प्राणी अपनी व्यक्तिगत चेतना का उदय होने पर एक कुटुम्ब में रहने के कारण अपने को प्रतिकूल परिस्थिति में देखता है। इसलिए सम्मिलित कुटुम्ब का जीवन दुखदायी हो रहा है।

तितली में दो कथाएँ साथ-साथ चलती हैं। एक तरफ ग्राम-सङ्गठन में लग्न जमींदार इन्द्रदेव की कहानी है। आंग्ल युवती शैला इन्द्रदेव के जरिये भारतीय संस्कृति की ओर आकृष्ट होती है और उसे अपनाने की चेष्टा करती है। शैला के कारण इन्द्रदेव के गृह-जीवन में संघर्ष उपस्थित होता है। अन्त में दोनों का विवाह हो जाता है। दूसरी तरफ तितली और मधु-

वन की कहानी है। तितली के सम्बन्ध में, शैला की भाँति हम भी उसका हाथ पकड़ कर कह सकते हैं—वहन ! यथार्थ में तुम बाबाजी (बाबा रामनाथ) की वेटी हो ! तितली का साहस देख कर पाठक के मन में उसके प्रति श्रद्धा जगती है। तितली का बचपन अकाल में बीता, शैशव बिना दुलार का। यौवन के आरम्भ मे अपने बाल-सहचर 'मधुआ' से थोड़ा प्रणय-मधु मिला। फिर वही जीवन-संघर्ष। जब मधुआ जेल चला जाता है, तितली के रहने और खाने-पीने का ठिकाना नहीं रहता। वह उन तीन लड़कियों को पालती है, जिन्हे लोग व्यभिचार की सन्तान कह, उनसे घृणा करते थे। मधुआ इन्द्रदेव की भाँति मानव-स्वभाव के गुण-दोषों से पूर्ण है। उसमें महत् कामना है। वह अपने वातावरण मे संघर्ष पाता है। खून के अपराध मे जेल जाता है। लेकिन अन्त में तितली की भाँति हम भी देखते हैं कि जीवन-युद्ध का थका हुआ सैनिक मधुवन विश्राम-शिखर के द्वार पर खड़ा है।

कंकाल की भाँति तितली में कितने सुन्दर वाक्य हैं, जिन्हे याद कर लेने की इच्छा उठती है।

तितली और कंकाल—दोनो उपन्यासों मे प्रसाद अपना मन्तव्य प्रकाशित करने के लिए घटनाओं का सहारा लेते हैं। कुछ उपन्यास-लेखकों मे इतनी क्षमता होती है कि वे घटनाओं को याद दे सकते हैं। पात्रों की मनोवैज्ञानिक स्टडी मे उन्हें इतना मसाला मिलता है कि वे पाते हैं घटनाएँ तो मनोभावों

की शारीरिक चेष्टामात्र हैं। इस तरह .पाठक भी उपन्यास घटनाओं को इसी अनुपात में देखता है। प्रसाद के उपन्यासों के चरित्र घटनाओं के सहारे मन पर प्रस्फुटित होते हैं।

प्रसाद एक कुशल नाटक-कार हैं, इसीलिए उन्होंने अपने उपन्यासों में नाटक-तत्व का अच्छा सामञ्जस्य किया है। प्रेम-चन्द अपने पहले के उपन्यासों में पात्रों की मनोवैज्ञानिक स्थिति समझाने के लिए स्वगत कथोपकथन का आश्रय लेते हैं, जो कि बाद के उपन्यासों में उन्होंने भी नाटकीय ढंग का स्वागत किया है। प्रसाद अपने पहले उपन्यास कंकाल में ही सफलता-पूर्वक नाटकीय-तत्व का सम्मिश्रण कर सके हैं। वह थोड़ा-सा वर्णन करते हैं, फिर पात्र स्वयं वार्तालाप-द्वारा कथानक को आगे बढ़ाने में समर्थ हो जाता है।

कवि होने के कारण प्रसाद के वर्णन में इतनी तीव्रता आजाती है कि पाठक झूमने लगता है। उदाहरण के लिए—

जूही की प्यालियों में मकरन्द मदिरा पीकर मधुपों की टोलियाँ लड़खड़ा रही थीं और दक्षिण पवन मौलसिरी के फूलों की कौड़ियाँ फेंक रहा था। —कंकाल

घंटी के कपोलों में हँसते समय गड्ढे पड़ जाते थे। भोली-मतवाली आँखें गोपियों के छायाचित्र उतारतीं, और उभरती हुई वयस-सन्धि से उसकी चंचलता सदैव छेड़छाड़ करती रहती। वह एक क्षण के लिए स्थिर न रहती—कभी अंगड़ा-इयाँ लेती तो कभी अपनी उँगलियाँ चटकाती। आँखें लज्जा

का अभिनय करके जब पलकों की आड़ में छिप जातीं तब भी भौंहें चला करतीं। कंकाल—

शैला ने अपनी भोली आँखों को ऊपर उठाया। सामने से सूर्य की पीली किरणों ने उन्हें धक्का दिया; वे फिर नीचे झुक गईं। —तितली

फिर (शैला ने) अपने होठों को गर्म चाय में डुबो दिया जैसे उन्हें हँसने का दंड मिला हो। —तितली

प्रसाद एक दृश्य को चित्रित करने के लिए किस भाँति शब्द-जाल की रचना करते हैं।

प्रसाद मुख्यतः वार्त्तालाप-द्वारा उपन्यास के कथानक को आगे बढ़ाते हैं, इस तरह स्वभावतः उपन्यासों में एक कमजोरी भी आ जाती है। जिन उपन्यासों में कथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-युक्त वर्णन के साथ प्रस्तुत की जाती है, उनमें वार्त्तालाप का अंश एक विशेषता प्राप्त कर लेता है। मुख्यतः वार्त्तालाप भी मनोवैज्ञानिक गुत्थियों पर ही प्रकाश डालता है और इस तरह उसका एक विशेष आकर्षण रहता है। वह कथानक को अप्रधान रूप में आगे बढ़ाता है। इसके विपरीत नाटकीय ढंग के उपन्यासों में वार्त्तालाप के कुछ अंश का उपयोग कथानक को आगे बढ़ाने के लिए ही किया जाता है।

टेकनिक के लिहाज से तितली कंकाल से श्रेष्ठ है। कंकाल में विविध घटनाओं की जड़ें पात्रों के हृदय में गहरी नहीं जा सकीं। घटना के पश्चात्, उस घटना के साथ पात्र की

मनोवैज्ञानिक स्थिति का मेल बैठाने के लिए कुछ शब्दों की आवश्यकता पडती है।

कथावस्तु के लिहाज से यह बताना कठिन है कि दोनों उपन्यासों में कौन श्रेष्ठ है। दोनों मे वर्त्तमान की कुछ ज्वलंत समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। सिर्फ यह बात खटकती है कि जब प्रसाद समाज में इतनी क्रान्ति लाना चाहते हैं, तो वे राजनीतिक समस्या से कैसे विलग रह सके। क्योंकि सामाजिक समस्याओं का बहुत कुछ हल राजनीतिक समस्याओं में है।

हिन्दी राष्ट्रभाषा है। वह किसी एक प्रान्त की नहीं, समस्त राष्ट्र की है। प्रसाद के उपन्यास भी समस्त राष्ट्र के हैं। तितली मे गॉवो की समस्या है, जो समस्त राष्ट्र की है। यह देखकर खुशी होती है कि आज गाँवों की ओर ध्यान दिया जा रहा है। ऐसा कार्यक्रम प्रसाद बहुत पहले पेश कर चुके हैं। कंकाल में समाज की ठोकरों की धूल माथे से लगाने वाले व्यक्तियों द्वारा निर्मित ही 'भारत-संघ' संस्था की योजना है।

कहानी-लेखक जयशङ्कर प्रसाद

कहा जाता है कि कवि देश, काल और समाज से परे होता है। वह दार्शनिक-भाव से मानव-हृदय की अन्तरतम वृत्तियों के दर्शन करता और उन्हें समस्त मानव के मानस में प्रतिष्ठित करता है। सिर्फ मनुष्य ही नहीं; पशु-पत्ती, नदी, पहाड़, आसमान, समुद्र—संक्षेप में समस्त चर-अचर, जीव-अजीव जगत को वह अपनी इन्हीं भावनाओं से रंगता है और उन्हें विशेप आकृति प्रदान करता है।

उक्त कथन को इस प्रकार भी कह सकते हैं—ज्ञान-विज्ञान, शास्त्र, राजनीति, समाजनीति—उपयोगिता की समस्त बातों के नाते हम अपने को विस्तृत-रूप से नहीं फैला पाते। ज्ञान-विज्ञान की बातें सार्वजनिक प्रसाद पा चुकने के बाद अपना महत्त्व खो बैठती हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक जगह लिखा है—ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में हम जैसे जज की कुर्सी में बैठकर और प्रकृति को अभियुक्त के कठघरे में खड़ा कर उसके पेट से राई-रत्ती निकाल लेने की व्यवस्था करते हैं। समाज-

नीति और राजनीति में भी हम अपने को किसी वर्ग-विशेष और स्थल-विशेष के निवासियों के कुछ स्वार्थों की रक्षा करने में अपने को सीमित रखते हैं। भावनाओं की बात के साथ इस किस्म के प्रतिबन्ध नहीं। उनको लेकर हम जैसे समस्त विश्व में व्याप्त हो जाने की ताकत अनुभव करते हैं। वे चिर-नूतन, चिर-नवीन हैं। वे वर्ण, जाति और स्थान और काल की पर्वाह न कर समस्त मानव को समस्त काल में छूती हैं। कवि इन्हीं भावनाओं का गायक है। इतस्तः कवि समस्त मानव का है।

जयशंकरप्रसाद कवि हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में विश्व-मानव के हृदय की वेदना और पुलक की कहानी अंकित की है। उनकी कहानियों में भी इन्हीं भावनाओं की प्रतिष्ठा है। सुख-दुख, संयोग-वियोग, प्रणय-परिणय, प्रतिकार-क्षमा, तप-त्याग, वेदना-सहानुभूति—मानव-स्वभाव की इन्हीं सहज-वृत्तियों को हरेक जाति और वर्ण तथा वर्ग के मनुष्यों में दिखला कर वह एक प्रकार से हमारे हृदय की संकीर्णता को—हमारी स्वार्थ और अहंकार, प्रमाद और प्रपंच, बेदर्दी और बेरुखी की भावनाओं को चैलेंज देते हैं। इस तरह अप्रकट-रूप में हम उनकी कहानियों से विश्व-मानव के निकट पहुँचने की प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

× × × ×

वर्त्तमान के प्रति हमारा आरोप होता है। उसके साथ

हमारी कामनाएँ निहित हैं। हम उसे संस्कार देना, सम्हालना-सुधारना, तोड़ना-फोड़ना चाहते हैं। लेकिन इसके विपरीत—बीते काल की घटनाओं पर दृष्टिपात करते ही हम में एक अजीब निष्क्रियता छा जाती है। हमारी कामना वहाँ चुक जाती है। हम बीते काल की घटनाओं पर निष्पक्ष, निर्विकार-भाव से दृष्टिपात करते और उचितानुचित का निर्णय कर, एक अजीब मधुर भावना में डूब जाते हैं।

जयशंकरप्रसाद ने शायद इसीलिए अपनी अधिकांश कहानियों का रंग-मंच बीते काल की घटनाओं के आधार पर अवलम्बित किया है। कभी हमें बुद्धकालीन सभ्यता का दर्शन कराते हैं तो कभी मुगल और पठान-कालीन सभ्यता का। उस युग का जर्रा-जर्रा जैसे उनकी लेखिनी के स्पर्श से जागृत हो जाता है। हम स्वप्राविष्ट हो जाते हैं। कभी हम भव्य शिल्प-कला वाले राजमहलों में प्रवेश करते हैं तो कभी झोपड़ियों में, जिनकी तृण की झालरें प्रातःकालीन सूर्य की किरणों से रंगीन हैं। कभी कोमल चरणों की नूपुर-ध्वनि सुनते हैं तो कभी क्रोध, काम, मान, वैभव और प्रमाद का नंगा नृत्य देखते हैं। लेकिन हृदय के अन्त तक पहुँचते पहुँचते राग-विराग, मान-अपमान, घृणा-द्वेष, स्वार्थ-अहंकार की सभी भावनाएँ पानी के बुलबुले की भाँति विलीन हो जाती हैं और सब भावों के प्रति एक अजीब करुणा और सहानुभूति शेष बचती है। हम देखते हैं कि मनुष्य थोड़ी देर के लिए भले ही अपने रूप के ऊपर घमंड

कर ले, धन के मद में अपने चारों तरफ ऊँची-ऊँची दीवारें खड़ी करके अपने को जीवन से अलग कर ले, विलास और पदार्थ-सुख को सब कुछ समझ कर उसमें अपने का उलझा ले, लेकिन क्या वह दीर्घ-काल तक अपने को इन अवस्थाओं में स्वाभाविक देख सकता है ? किसके हृदय में ज्वाला नहीं धधकती ? किसके आगे अपनी कमजोरियाँ नहीं हैं ? इस तरह दूसरे रूप में मनुष्य की स्वाभाविक-मूर्त्ति दया, क्षमा, प्रेम और सरलता से मुक्त—ऐसे मानव की कल्पना हमारे हृदय पर व्याप्त हो जाती है।

जयशङ्करप्रसाद ने कितनी सामाजिक कहानियाँ भी लिखी हैं। इनमें दलितवर्ग के प्रति उनकी सहानुभूति स्पष्ट है:—

'मधुआ'—किस प्रकार एक शराबी के हृदय में एक भोले-भाले आश्रय-विहीन लड़के के प्रति माया-ममता जगती है।

'धीसू'—किस प्रकार रेजगी और पैसों की थैली लगा कर—पैसे बट्टे पर अपनी जीविका चलाने वाले घीसू एक दीन औरत बिन्दो को आश्रय देता है, जब कि जिसके साथ बिन्दो ने अपना धर्म बिगाड़ा, वह साथ नहीं देता।

'इन्द्रजाल'—कैसे एक लड़का दिन-भर तरह तरह के खेल दिखा कर—इस प्रकार से अर्जित पैसे से अपनी रोगिणी माँ की सेवा करता है।

टट्टुओं पर सामान रखकर घूमने वाले और चोरी-डाका से

जीविका चलाने वाले—ऐसी Backward Tribes के लिए भी प्रसाद के हृदय में सहानुभूति है। उनकी कवि-दृष्टि इनमें भी कोमल भावनाओं को ढूँढ़ निकालती है और इस तरह उनके प्रति हममें आदर उत्पन्न करते हैं।

आँधी की 'लैला' पर किसने आँसू न बहाए होंगे।

इन्द्रजाल में 'वेला' और 'गोली' की प्रणय कहानी है।

ऐतिहासिक और सामाजिक कहानियों के अलावा, जयशङ्करप्रसाद ने कुछ छायात्मक कहानियाँ भी लिखी हैं। इनमें संकेतों और आभासों-द्वारा उन्होंने हमें भव्य सन्देश दिये हैं। अगर हमारी दृष्टि का विस्तार सिर्फ इतना ही है कि अमुक कहानी के पात्र दुनिया के मनुष्यों से मिलते हैं या नहीं, अथवा अमुक ढंग का वार्तालाप क्या संसार के अमुक वर्ग में प्रचलित है, तब मुझे डर है कि ऐसे लोग इन कहानियों का आनन्द न उठा सकेंगे।

कई साल हुए 'विशाल-भारत' में जयशङ्करप्रसाद की एक कहानी 'ज्योतिष्मती' उद्धृत की गई थी। समालोचक महोदय ने अपने पाठकों से उसका तात्पर्य जानना चाहा था।

मैं समझता हूँ कोई भी सावधान पाठक निर्विकार-भाव से प्रसाद की छायात्मक कहानियों का अध्ययन करने पर, उनका आशय भली-भाँति समझ जायगा।

ज्योतिष्मती कहानी का तात्पर्य स्पष्ट है। लेखक की उक्ति

है कि जिसने कभी चन्द्रशालिनी ज्योतिष्मती रजनी के चारो पहर बिना पलक लगे प्रिय की निश्छल चिन्ता में बितायें हों, वहीं ज्योतिष्मती प्राप्त कर सकता है। दूसरे शब्दों में जिसने कभी बिना प्रत्याशा के प्यार किया हो वही ज्योतिष्मती पर हाथ लगा सकता है। साहसिक के मन में कलुष था, इसलिए उसे ज्योतिष्मती नहीं प्राप्त होती, अर्थात् उसे अपना अभीष्ट सिद्ध नहीं होता।

मेरा विचार है, इस प्रकार की छायात्मक कहानियाँ जयशङ्करप्रसाद की सर्वोत्तम कहानियाँ हैं। इन्हीं तथा ऐतिहासिक कहानियों के आधार पर—शायद विनोदशङ्करलाल ने अपनी 'मधुकरी' में प्रसाद के सम्बन्ध में यह मन्तव्य प्रकाशित किया है—

"आपकी कहानियाँ स्थायी साहित्य की चीज हैं। उन्हें दो सौ वर्ष के बाद पढ़ने पर उतना ही मजा आयेगा जितना आज आता है।"

कामायनी

इस महाकाव्य की आलोचना लिखते समय, लेखक को कितना दुःख हो रहा है, यह वर्णनातीत है। आज महीनों से मैं सोच रहा था कि प्रसादजी की इस अनुपम रचना की आलोचना लिखकर अपनी लेखनी को पवित्र करूँ—पर यह कार्य उस समय हो रहा है जब प्रसादजी की जीवन लीला समाप्त हो गयी! अस्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि जाते समय प्रसादजी हमारे सामने अपनी प्रतिभा के काव्य-जगत में एक ऐसी विभूति छोड गये हैं जिस प्रकार स्वर्गीय प्रेमचद जी उपन्यास जगत में, मरने के पहले 'गो दान' कर गये।

पुस्तक का 'आमुख' भाग—जिसे उसकी भूमिका कहिये—बडा ही सुन्दर और रोचक है। कवि ने उसमें स्वीकार किया है कि कल्पना को भी स्थान दिया गया है। कवि के अनुसार, सृष्टि के अन्तकाल मे, प्रलय के अवसर पर, मनु मात्र बच गये। प्रलय से वे बडे चिन्तित हो उठे। उनका बना बनाया खेल बिगड गया था। पर उनकी चिन्ता अथवा

निराशा आशा में परिणत होने लगी। पानी छँटने लगा। आशा का उदय हुआ। आशा के बाद ईश्वर की प्रेरणा से उनको साथिन मिली—श्रद्धा। आशावान् मनु श्रद्धावान् हो गये। श्रद्धा से उनका परम प्रेम था। वह उनकी एक मात्र सहचरी थी। पर इस सहवास की भी अति हो गयी। होम और उपासना चरम सीमा पर पहुँच गयी थी। उसका प्रत्यावर्त्तन हुआ। मनु में काम-वासना का उदय हुआ और इसका कारण थी सुन्दरी इड़ा, जिसका मनु के जीवन में, श्रद्धा के बाद, यकायक प्रवेश हुआ। श्रद्धा से मन हट गया। इड़ा ने सब कुछ पा लिया। श्रद्धा वियोगिनी हो गयी। उधर मनु की वासना चरम सीमा को पहुँच गयी और उसकी चरमता के बाद लज्जा का प्रवेश हुआ। मनु अपनी वासना से क्षुब्ध हो उठे। उन्हें लाज लगी। वे मन के भीतर शान्ति खोजने लगे—उनका मन उन्हें श्रद्धा की ओर खींच ले गया। पर श्रद्धा प्रतिकार नहीं चाहती थी। वह मनु के स्नेह की भूखी थी। उसने इड़ा को भगा नहीं दिया। पर मनु अब सृष्टि के विकास का रहस्य समझ चुके थे। सृष्टि के पिता ने अपने जीवन में मनोविकार के ये नाटक खेले और सृष्टि की ओर आज तक उनकी सन्तान यही नाटक खेलती चली आ रही है। निराशा, आशा, श्रद्धा, अति कामवासना, लज्जा वैराग्य !! प्रकृति का यही क्रम है। शक्ति की यही महत्ता है। मन चञ्चल और माया-मलिन है। मनु भी

उसी की प्रारम्भिक परीक्षा में परखे गये। पर अन्त में श्रद्धा की जय हुई—श्रद्धा ही जीवन का मूल मन्त्र है। उसने मनु पर भी विजय पाई। अतः श्रद्धा ही इस काव्य की मुख्य पात्रिणी है। अतएव उसी के नाम पर इस ग्रंथ का नाम 'कामायनी' है। श्रद्धा का नाम "कामायनी" वैदिक है। सायण के अनुसार "कामगोत्रजा श्रद्धा नामर्षिका"—अतः कामायिनी। मनु को आदम और श्रद्धा को 'ईव' कहने में कोई आपत्ति नहीं है। अतएव यह महाकाव्य उस समय का चित्र है जब मनो-भाव-मनोवेग का तराजू आज जैसा न था, जब कि प्राकृतिक सौन्दर्य की सहायता से भी विषय बहलाया नहीं जासकता था जब वीभत्स से सुन्दर निकालना था—अतएव कितना कठिन विषय है और कवि ने उसे लिखने के लिए अपना हृदय किस प्रकार निचोड़ा होगा।

इड़ा-मीमांसा

पर, इसका काफी पृष्ठों वाला आमुख एक तर्क उत्पन्न कर देता है। उससे हमें उत्कंठा होती है कि यह जानें कि यह कथा कवि की कल्पना है, या वैदिक-सत्य। वैदिक कथा ये केवल शत-पथ-ब्राह्मण के आधार पर जानी जा सकती है। उसमें इड़ा का परिचय है किन्तु उससे यह प्रकट होता है कि श्रद्धा के साथ मनु ने जो वैदिक हवन किये थे, उसकी हवि से पल कर तथा उत्पन्न होकर इड़ा ने जन्म लिया था। अत एव उसने अपने परिचय के समय मनु से कहा था—"त्वं दुहिता",

उसी।' जरूर है कि इला या इड़ा मनु की पुत्री थी। अतएव प्रसादजी ने आमुख में उसके विषय में जो लिखा है, वह पूर्ण सन्तोषप्रद नहीं। स्यात् उन्होंने विष्णुपुराण की ऊपर लिखी पंक्तियाँ न देखी हों, वरना जिस स्त्री की इतनी छीछालेदर हुई कि लड़की लड़का-लड़की बनती फिरी, उसी को मनु की प्रेयसी न बना देते। पर, यह तो अपना मत है।

अस्तु, कथा का प्रारम्भ प्रलय-काल के अन्त से होता है जब चारों ओर विनाश का साम्राज्य देखकर चिन्तित मनु दुःखी होकर हिमगिरि पर बैठे हैं। कवि ने इस वर्णन में काव्य-लालित्य कूट कूट कर भर दिया है।

धू धू करता नाच रहा था, अनस्तित्व का तांडव नृत्य।
आकर्षण विहीन विद्युत्कण, बने भारवाही थे भृत्य॥ पृष्ठ २०

वीभत्स-रस के इस चित्रण के बाद कवि, मनु का दिमाग सुलझाने लगता है। यह दूसरे अध्याय का विषय है। कितना मार्मिक भाव है—

किन्तु जीवन कितना निरुपाय, लिया है देख नहीं संदेह;
निराशा है जिसका परिणाम, सफलता का वह कल्पित गेह॥
पृष्ठ ५

अतः पहला अध्याय, 'चिन्ता', दूसरा 'आशा', तीसरा 'श्रद्धा' है। श्रद्धा के बाद 'काम' उदित हुआ। ७० पृष्ठ पर कवि लिखता है—

उस दूर क्षितिज में सृष्टि बनी,
स्मृतियों की संचित छाया से।
इस मन को है विश्राम कहाँ,
चंचल यह अपनी माया से ॥

पृष्ठ १०३ पर 'लज्जा' ने अपना परिचय कितने सुन्दर रूप से दिया है—

'लाली बन सरल कपोलों में,
आँखों में अंजन-सी लगती।
कुञ्चित अलकों-सी घुंघराली,
मन का मरोर बनकर जगती ॥
चंचल किशोर सुन्दरता की,
मैं करती रहती रखवाली।
मैं वह हलकी-सी मसलन हूँ,
जो बनती कानों की लाली ॥

लज्जा की परिभाषा कितनी सुन्दर है! पर इसके पूर्व मनु ने श्रद्धा की प्रशंसा में जो कहा है उससे कवि के हृदय का नारी-जाति के प्रति भाव प्रकट होता है। कवि लिखता है—

'नारी तुम केवल श्रद्धा हो—विश्वास रजत नग-पग तल में।' अस्तु, श्रद्धा के बाद जब इड़ा ने मनु के जीवन में प्रवेश किया, उस समय श्रद्धा का दुःख कितना मार्मिक है—

बाधाओं को अतिक्रमण कर,
जो अबाध हो दौड़ चले।

वही प्रेम अपराध हो उठा,
जो सब सीमा तोड़ चले॥ २०८

इड़ा के राग के बाद मनु को 'स्वप्न' में अपनी वास्तविकता का पता चला और वे ऊब उठे। घबड़ा गये। उनके मन में भयङ्कर 'संघर्ष' हुआ। अन्त में 'निर्वेद' और उसके बाद परम ज्ञान—"दर्शन" प्राप्त हुआ। यही क्रमागत इस महाकाव्य के अध्याय हैं। कहीं से किसी का चरित्र बिगडने—कमजोर नहीं होने पाया है और कवि ने हरेक भाव का बड़ी खूबी से निभाया है। इड़ा के साथ के कारण जब मनु पशु-बलि जोरों में करने लगे तो श्रद्धा ने उन्हें फटकारा—

रचना-मूलक सृष्टि यह, यज्ञ पुरुष का जो है।
संसृति सेवा-भाग हमारा, उसे विकसने को है॥

हिंसा के विषय में पृष्ठ १४७ पर, बडी भावमय पंक्तियाँ हैं। पर ज्यों-ज्यों कवि का उद्देश्य पूरा होता गया है, उसने दार्शनिक मीमांसा में अपना हृदय और पाण्डित्य दोनों भर दिया है। देखिये—

चेतनता का भौतिक विभाग,
कर जग को बाँट दिया विराग।
चिति का स्वरूप यह नित्य जगत,
वह रूप बदलता है शत्‌शत्॥

कण विरह मिलन मन नित्य निरत,
उल्लासपूर्ण आनन्द सतत।
तल्लीन पूर्ण है एक राग,
झंकृत है केवल जाग-जाग॥ —२४२
"चेतन समुद्र में जीवन,
लहरों-सा बिखर पड़ा है।
कुछ छाप व्यक्तिगत अपना,
निर्मित आकार खड़ा है॥ —२८८

अस्तु, प्रसादजी की इस कृति में गाने—समझने लायक कितने पद्य भरे पड़े हैं, यह अपनी रुचि का विषय है। कुछ वाक्य ऐसे हैं जिन्हें हम समझ न सके (छायावाद में कम समझता हूँ) जैसे "व्यथा-गाँठ निज खोलो" इत्यादि। कहीं कुछ छन्द-भङ्ग तथा कर्ण-कटु दोष भी मालूम पड़ता है, जैसे—

मायाविनि बस पा ली तुमने ऐसी छुट्टी,
लड़के जैसे खेलों में कर लेते कुट्टी।"

अस्तु, हिन्दी का यह सर्व श्रेष्ठ महाकाव्य स्वर्गीय प्रसादजी की अन्तिम विभूति है—और हम इसके लिए उनके कितने कृतज्ञ हैं?

करुण-हृदय प्रसाद

सन् १९२६ ई० की बात है, क्वीन्स कालेज के छात्रों ने एक कवि-सम्मेलन का आयोजन किया था—महीना और दिन मुझे याद नहीं। इन पंक्तियों का लेखक भी कविता देवी के आराधन का सुयोग अवसर देख सम्मेलन में पहुँचा। काशी के समस्त सुप्रसिद्ध साहित्यिक-गण, हरिऔध, लाला भगवानदीन, श्रीकृष्णदेवप्रसाद गौड़ और हमारे प्रसादजी उपस्थित थे। स्वर्गीय लालाजी से ही उस समय तक परिचय था—मैं उनकी तीव्र दृष्टि से अपने को न बचा सका। उनके अधिक आग्रह करने पर मुझे भी कविता पाठ का अवसर हरिऔधजी ने दिया। मैं एक आगन्तुक होने के कारण बहुत क्षुभित हो रहा था। परन्तु गौड़जी और प्रसादजी के प्रोत्साहन से हिम्मत बढ़ी। सभापतिजी को अनिच्छा रहते भी समय-पर-समय देना पड़ा। यहीं से मेरे उनके परिचय का श्रीगणेश होता है।

ठीक साल-भर बाद जब मैं काशी फिर गया, प्रसादजी से मिलने की उत्कट अभिलाषा से बाध्य होकर गौड़जी के साथ

प्रसादजी के घर पहुँचा। कितना जिंदादिल वह मनुष्य था! भूल तो वेशक वे मुझे गये थे—परन्तु गौड़जी के याद दिलाने पर आनन्द से विह्वल हो उठे. झट से फरमायश की "भाई सरोज, कोई चोटी की चीज सुनाओ"—"मैं और चोटी की चीज वह भी आपके सम्मुख"—मेरा उत्तर था। थोड़ी देर इधर-उधर की बातों के बाद साहित्य की चर्चा छिड़ी जिसका 'दौर' एक घंटा तक चलता रहा। पान-तम्बाकू से जी भर ही चुका था। आज्ञा ली और घर आये।

प्रसादजी हमारे श्वसुर मुंशी कालिन्दीप्रसाद के घने मित्रों में से थे—जब से मेरा सम्बन्ध उनको मालूम पड़ा था उनका स्नेह और भी बढ़ा। उनके आदर-भाव का मैं सदैव ऋणी रहूँगा। जब कभी मैं काशी जाता तो प्रसाद के दर्शन अवश्य होते। गौड़जी का निवास-स्थान साहित्य-चर्चा की रंगभूमि है, जबँ कभी प्रसाद पधारते, रंगभूमि का यौवन निखर पड़ता। कविता सुनने-सुनाने में कितना उत्साह उनको हो जाता था इसको उनके साथी ही जानते हैं। मुझे अच्छी तरह स्मरण है, मेरी आँखों के सामने प्रत्यक्ष रूप मे उसी भाँति उनकी हँसती हुई मूर्ति आ जाती है जब 'कामायनी' का 'लज्जा' शीर्षक परिच्छेद उन्होने सुनाया था, गौड़जी और हम दोनो मंत्र-मुग्धवत् उनकी शकल देख रहे थे।

काशी 'जयशङ्करजी' की जन्मभूमि और क्रीड़ा का स्थल है। यहीं सब कुछ होकर समाप्त हुए। काशी को छोड़ना

अंत में भी उनको असंह्य था। वहाँ की एक-एक रज उनके चरण चिह्नों से अंकित है, उससे उनका इतिहास लिखा जा सकता है। प्रसादजी को यश-लोलुपता से सच्ची घृणा थी, जिसके उदाहरण प्रत्येक साहित्यिक की जबान पर हैं। यदि जयशंकरजी अपनी कीर्ति बढ़ाने के पीछे घूमते होते तो यह जयशंकर जिनके लिये आज हिन्दी-संसार फूट-फूट कर रो रहा है, इतने सर्व प्रिय न होते। साहित्य से प्रसादजी ने व्यवसाय नहीं किया, वरन् उन्होंने जितनी पुस्तकें लिखीं, प्रकाशकों को मुफ्त दे डाली। उनके उपन्यास के सीनरियों तक बन गये, फिल्म बन गई—नूरी का अभिनय मैंने स्वयं आगरे में देखा था—मगर प्रसादजी ने अनेक बार हम लोगों के कहने पर भी कोई हस्तक्षेप नहीं किया।

सहृदयता की उनमें पराकाष्ठा थी। किसी को विमुख करना वह जानते ही न थे। दो-एक कवि उनके आश्रित भी रह चुके थे। मगर साथ ही स्वाभिमानता भी उनमें पूरी थी। क्षमाशील होते हुए भी वह अपमान को असह्य समझते थे जिसका परिचय लखनऊ-प्रदर्शिनी कवि-सम्मेलन पर मिला—कितना अचल निर्णय था।

लखनऊ-प्रदर्शिनी के साथ उस समय की गोरी सरकार ने कवि-सम्मेलन का भी आयोजन किया था। पंडित श्यामबिहारी मिश्र के परामर्श से सम्मेलन को सफल बनाने का भार दुलारेलाल भार्गव पर दिया गया था। मैं भी कार्यकारिणी का एक सदस्य

था। कवियों को निमंत्रण देने काशी जो महाशय भेजे गये थे वह प्रसादजी से नहीं मिले। हिन्दुस्तानी एकाडेमी की मीटिंग भी थी—प्रसादजी को उसमें आना था। यात्रा करने में प्रसादजी आलस्य के मूर्ति थे, और यदि यह कहें कि स्वर्गीय रत्नाकरजी के आलस्य में सहपाठी थे तो कोई अत्युक्ति न होगी। चिरंजीव रत्नशंकर (प्रसादजी का लड़का) के हठ पर ही वह लखनऊ पधारे। प्रसाद जी के आने की सूचना मुझे कृष्णदेव प्रसाद जी गौड़ ने दी और उनके ठहरने के प्रबंध का भी उसमें कड़ा आदेश था।

प्रदर्शिनी में आने वालों की संख्या अधिक होने पर भी मैं प्रसादजी को अपने साथ ही ठहराना चाहता था। स्थान की कमी से मेरा चित्त क्षुभित था। ख़ैर, हम और गौड़, प्रसादजी को लाने स्टेशन पर पहुँचे। देखते क्या हैं कि प्रसादजी रामानंद मिश्र के साथ 'सरोज', 'सरोज' चिल्लाते और हँसी का ठाहाका लगाते गाड़ी से उतर रहे हैं। स्थान की कठिनाई और अपनी इच्छा मैंने उनसे कह दी। वह मेरे मकान पर ही ठहरे, तकलीफ भी उठाई, परन्तु मेरा मान रखने के लिये उन्होंने सब कुछ गवारा किया। शालीनता का इससे अधिक और उदाहरण क्या होगा ? सबसे मजे की बात यह है कि प्रसादजी ने मेरे यहाँ का अन्न तक नहीं खाया। पूछने पर मालूम पड़ा कि उनका विचार था कि कहीं पेड़ के नीचे प्रदर्शनी के निकट ही ठहरेंगे, इसीलिये आटा-दाल-नमक तक बाँध लाये थे।

मगदल के लड्डू से टिफिन-कैरीयर भरा था। खूब खाया और खिलाया।

प्रसादजी के आने की खबर पाते ही साहित्यिकों का ताँता मेरे मकान पर लग गया। खेद के साथ लिखना पड़ता है कि दुलारेलालजी प्रसादजी से मिलने नहीं आये, न अपनी भूल ही स्वीकार की। और आते भी कैसे उस समय वे एक महाकवि-सम्मेलन के महामन्त्री थे। मगर वाह रे! प्रसाद—न जाना था, न गये। कवि-सम्मेलन में प्रसाद के लिये श्रोताओं ने हुल्लड़ मचाया, उपद्रव किये—मगर निर्णय अपनी जगह पर हिमालय की भाँति अचल था। इधर इतना कठिन निर्णय उधर उनके सौजन्य और सहृदयता का हाल सुनिये। कवि-सम्मेलन में प्रसादजी की कविता को न सुन पाने से निराश छात्रों ने उनके आगमन के उपलक्ष में कान्यकुब्ज कालेज में उनके कविता-पाठ के लिए आयोजन किया। यश लोलुपता से दूर, कीर्ति के अनिच्छुक प्रसादजी छात्रों के आग्रह को न टाल सके। लाचार कालेज गये। वहाँ उनके स्वागत के लिये, पं० बालकृष्ण पाण्डेय, पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी तथा अन्य साहित्यिक उपस्थित थे। प्रसादजी की नवीन पुस्तक, हिन्दी-साहित्य को आजीवन जीवित रखने वाली, अमर-कीर्ति "कामायनी" प्रकाशित हो चुकी थी। रुग्णावस्था होते हुये भी प्रसादजी ने एक घण्टा कविता-पाठ किया।

यही उनका अंतिम कविता-पाठ था। साहित्य-कानन केसरी का यही अंतिम सिंहनाद था।

हृदय लिखते फटता है कि हमारा आतिथ्य ग्रहण करने के बाद वह घर जाते ही बीमार पड़ गये। ज्वर सकोप शान्त होने पर स्वयं उन्होंने अपनी बीमारी की सूचना पत्र-द्वारा दी मगर उसमें एक साधारण ज्वर मात्र ही का उल्लेख था। कुछ दिन के बाद पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी द्वारा रोग की भीषणता का परिचय मिला। हृदय धक से रह गया। काशी में सारनाथ सैनीटोरियम (Sanitorium) के चिकित्सक डाक्टर चतुर्वेदी को मैंने पत्र लिखा। काशी कई बार आया। परन्तु उनके रोग में अभिवृद्धि ही होती दिखाई पड़ी। इस अशुभ समाचार को सुनने के लिये प्रस्तुत न रहते भी, सुनना ही पड़ा। आज भी वह अस्थि-पञ्जर मय शरीर, जैसा काशी में दो मास पूर्व छोड़ आया था आँखों के सामने प्रतिक्षण नाच रहा है। उनका वह सत्कार और अट्टहास स्मरण कर हृदय पर एक गहरी चोट लगती है।

साहित्यिक-क्षेत्र के प्रसादजी एक अजय महारथी थे। वह शनैः शनैः आगे बढ़े और इतने बड़े गौरव को प्राप्त किया। आधुनिक खड़ी बोली के कवियों में प्रसादजी का आसन सबसे ऊँचा था। सच तो यह है कि खड़ी बोली के कवियों में जहाँ तक कविता का सम्बन्ध है मैं उन्हीं को कवि समझता था। प्रसादजी ने अपनी कविता में जो रंग ढाला है वह न कोई

दूसरा ढाल सका है न अब सभव ही है। वे एक जीवन-साहित्य के निर्माता थे। प्रसादजी की ब्रजभाषा की कविता में इतना माधुर्य होता था कि सुनते ही कवि की प्रतिभा पर साधुवाद देना पडता है। उनकी 'आसू' शीर्षक कविता की एक पंक्ति मुझे स्मरण है—

"तातो तातो कढि रूखे मन, कौ हरित करै,
एरे मेरे आसू तैं पियूप त सरस है।
—(प्रसाद)

खेद है कि प्रसादजी का ब्रजभाषा काव्य लुप्त प्राय हो चुका है। प्रसादजी के कविता पाठका ढग अनूठा था और इतना मनोमुग्धकारी होता था कि उनका कविता पाठ श्रोता मुग्ध हो कर सुनते थे। उनका वह झूम झूम कर कविता पाठ क्या किसी को भूल सकता है।

मैं अपने दिवगत मित्र के लिए क्या लिखूँ, जो कुछ लिखूँ थोडा है। मित्र के नाते मैं लुट गया। जिस प्रकार श्री रत्नाकरजी के निधन से ब्रजभाषा काव्य का अत हो गया, उस प्रकार अब प्रसादजी के उठ जाने से खडी बोली की कविता का मध्यान्ह सूर्य अल्प काल ही में अस्त हो गया। आज हिन्दी भाषा की अवस्था एक विधवा से भी अधिक दयनीय है। चि० रत्नशकर पर पिता के बिछुडने का अपार दुख पड गय है। उनके इस दुख तथा प्रसादजी की विधवा पत्नी के प्रति मेरी हार्दिक सहानुभूति है। मेरी ईश्वर से प्रार्थना है कि

प्रसाद की विचारधारा

प्रत्येक कवि में एक विशेष मादकता रहती है जो कि उसके हृदय के मधु से उत्पन्न होती है। उसके हृदय की हाला उफन उफन कर काव्य धारा में प्रवाहित होने लगती है और पहले वह उसे मस्त कर दूसरों में मादकता उत्पन्न करती है। प्रसादजी में भी एक मादकता है किन्तु उनकी मादकता में एक गति विधि है, उनके हृदय की हाला का उफान उन्मत्त का-सा प्रलाप नहीं है। वह अकाण्ड ताण्डव नहीं है। उसमें गति और लय है। वे कवि हैं, उनमें कल्पना है और भाव हैं किन्तु भावना के साथ विचार भी हैं। उनके काव्य में कामायनी की कथावस्तु की भाँति मन का कामायनी अर्थात् भावना के साथ परिणय तो है ही किन्तु उसमें सारस्वत प्रदेश स्वामिनी इडा (बुद्धि) का भी सहयोग है। वह श्रद्धाहीन सहयोग नहीं है जिसमें कि विनाश और संसार की क्षति होती है वरन ज्ञान, कर्म और इच्छा से समन्वित हिमालय की उच्च भूमि में वास करने वाले

श्रद्धासयुंक्त मन की सेवा करने वाली कल्याणमयी बुद्धि का सहयोग है जिससे कि शाश्वत आनन्द की उत्पत्ति होती है। विचारहीन भावना अन्धी है और भावनाहीन विचार पंगु रह जाते हैं। कवि की अमर वाणी में भाव और विचारों का समन्वय होता है। प्रसादजी भी उन्हीं सिद्ध-हस्त कवियो में हैं जिनकी भावना सारहीन भागों में नहीं उड़ जाती वरन् उससे विचार की सरस धारा भी बहती है। कवि की विचार-धारा और दार्शनिक की विचारधारा में इतना अन्तर है कि वह भाव-शून्य नहीं होती उसके उपदेश भी शुष्क और नीरस नहीं होते वरन् कान्ता के से हित और मनोहरता युक्त होते हैं। हम उनके काव्य में रत्नों को पा सकते हैं किन्तु उनमें दार्शनिक के युक्तिवाद की कुदाली के अंक नहीं दिखलाई पडते हैं। जिन लोगों का तोष युक्तिवाद रुपिणी कुदाली के आघातों विना नहीं होता उनको कवि की वाणी में अधिक सार न दिखलाइ पड़ेगा किन्तु सरस हृदयों मे उनकी वाणी अपना चमत्कार दिखलाए बिना न रहेगी। मैं इतनी बात और कह देना चाहता हूँ कि कवि दार्शनिक या उपदेशक की भाँति अपने विषय का प्रतिपादन नहीं करता है। उसके भाव उसकी वाणी मे स्वयं ही अभिव्यंजित हो जाते हैं। वास्तव में यदि हम कुछ सार पाना चाहते हें तो उसकी पंक्तियों की ध्वनि में ही मिल सकता है। कभी-कभी तो कवि अपने आप कुछ नहीं कहते हैं उनके रचे हुए नाटकों के पात्र ही उनके भावो की व्यञ्जना करते हैं और

बहुत सी जगह तो यह भी पता नहीं चलता कि कवि किन भावों को अपनाता है और किन भावों का जनता के वकील की हैसियत से कहता है। तो भी उसके विषय के चुनाव तथा नाटक के अन्त से उसके विचारों का कुछ पता चल जाता है।

सब से पहले हम प्रसादजी के दार्शनिक विचारों को लेंगे। प्रसादजी के काव्य ग्रन्थों के सम्बन्ध में मेरा अध्ययन न विस्तृत ही है और न बहुत गम्भीर है। कवि दर्शन शास्त्र के अन्तिम तत्वों की ओर जा भी नहीं सकता। उसका सम्बन्ध जीवन से है और हम उसके दार्शनिक विचारों को भी जीवन के सम्बन्ध में ही देख सकते हैं। सृष्टि के सम्बन्ध में प्रसादजी अधिक नहीं कहते हैं। मनु भी अपने को एक जलमयी सृष्टि में पाता है। इस सम्बन्ध में कुछ पता चलता है तो यही कि वे उसे *मनोमय ही मानते हैं और वे प्रत्ययवाद (Idealism)* की ओर अधिक झुके हुए हैं। नीचे की पंक्तियों में इस बात का कुछ आभास सा मिलता है।

> नव मुकुर नील मणि फलक अमल,
> ओ पारदर्शिका ! चिर चचल
> यह विश्व बना है परछाई।

इसके अतिरिक्त उनके प्रकृति के वर्णना में मानव भाव ओत प्रोत मिलते हैं।

हिम-शैल बालिका कलरव संगीत सुनाती अतीत युग की गाथा गाती हुई सागर से मिलने जाती है और अनन्त मिलन

फेनिल खील बिखराता है। चन्द्रसूर्य और ऊषा सब प्रेम की पुकार करते हैं। ऊषा नागरी अम्बर पनघट में तारा डुबोती है और लतिका मधु मुकुल नवल रस भर लाती है।

उनके प्रियतम भी उनसे प्रकृति द्वारा ही आँखमिचौनी का खेल खेलते हैं, देखिए—

निज अलकों के अंधकार में
तुम कैसे छिप आओगे ?
इतना सजग कुतूहल ! ठहरो,
यह न कभी बन पाओगे ?
आह चूम लूँ जिन चरणों को
चाँप-चाँप कर उन्हें नहीं—
दुख दो इतना, अरे अरुणिमा
ऊषा सी वह उधर बही।
वसुधा चरण चिह्न सी बनकर
यहीं पड़ी रह जावेगी।
प्राची रज कुंकुम ले चाहे
अपना भाल सजावेगी।
देख न लूँ इतनी ही तो इच्छा ?
लो सिर झुका हुआ।
कोमल किरन-उँगलियों से
ढँक दोगे यह दृग खुला हुआ।

भगवान् के अस्तित्व को मानते हुए वे इस बात की निवे-

चना नहीं करना चाहते हैं कि वे कैसे हैं किन्तु उनसे वे चिर-मिलन चाहते हैं। कबीर या दादू का नमक की पुतली का समुद्र में व्यक्तित्व खो देने वाला मिलन नहीं वरन् जलधि और क्षितिज का-सा देखिए—

तुम हो कौन और मैं क्या हूँ ?
इसमें क्या है धरा सुनो।
मानस जलधि रहे चिर-चुम्बित—
मेरे क्षितिज उदार बनो।

प्रसादजी प्राचीनता के उपासक और भारतसंस्कृति के भक्त हैं। ये बुद्ध धर्म से भी बहुत प्रभावित हैं। लहर मे बौद्ध धर्म सम्बन्धी दो बड़ी सुन्दर कविताएँ मिलती हैं।

'अरी वरुणा की शान्त कछार' से आरम्भ होने वाली कविता मे बौद्ध धर्म का सार बड़े सुन्दर शब्दो में दिया है। देखिए—

छोड़कर जीवन के अतिवाद,
मध्य पथ से लो सुगति सुधार।
दुःख का समुदय उसका नाश,
तुम्हारे कर्मों का व्यापार।
विश्व मानवता का जय-घोष,
यहीं पर हुआ जलद स्वर मन्द्र।
मिला था वह पावन आदेश,
आज भी साक्षी है रवि चन्द्र।

बुद्ध धर्म की विश्वमानवता करुणा, और दुखवाद से वे जरूर प्रभावित हैं किन्तु वे उसके शून्यवाद को नहीं मानते। वे उसके शून्यवाद में उपनिषदों की 'नेति-नेति' की झलक देखते हैं।

"अहंकार मूलक आत्मवाद का खण्डन करके गौतम ने विश्वात्मवाद को नष्ट नहीं किया...उपनिषदों के नेति नेति से ही गौतम का अनात्मवाद पूर्ण है...व्यक्ति रूप से आत्मा के सदृश कुछ नहीं है।

वे दुखवाद और क्षणिकवाद दोनों ही मानते हैं किन्तु उतने पर ठहर नहीं जाते। वे क्षणिक के भीतर शाश्वत सौन्दर्य के दर्शन करते हैं और विश्वात्मा की पुकार सुनते हैं। वे उसमें अपनी वीणा के सुर को मिला देना चाहते हैं। इस परिवर्तनशील विश्व में वे एक अटल सत्ता का परिचय पाते हैं।

छिप जाते हैं और निकलते
आकर्षण में खिंचे हुए
तृण वीरुध लहलहे हो रहे
किसके रस से सिंचे हुए
सिर नीचाकर किसकी सत्ता
सब करते स्वीकार यहाँ;
सदा मौन हो प्रवचन करते
जिसका वह अस्तित्व कहाँ?

हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ?
यह मैं कैसे कह सकता
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो
भार विचार न सह सकता।
हे विराट ! हे विश्व देव ! तुम
कुछ हो ऐसा होता भान
मन्द गम्भीर धीर स्वर-संयुत
यही कर रहा सागर गान। (कामायनी)

प्रसादजी दुखवादी अवश्य हैं क्योंकि दुख के अस्तित्व को आशावाद में भुला नहीं सकते किन्तु उनका दुखवाद सुखवाद से विमुक्त नहीं है। संसार में दुख-सुख दोनों का ही अस्तित्व है। यद्यपि सुख क्षणिक है तथापि वह इसलिए उपेक्षणीय नहीं है।

"अन्धकार का जलधि लाँघ कर
आवेंगी शशि-किरनें,
अन्तरिक्ष छिड़केगा कन-कन
निशि में मधुर तुहिन को।
इस एकान्त सृजन में कोई
कुछ बाधा मत डालो,
जो कुछ अपने सुन्दर से हैं
दे देने दो इनको॥"

× × × ×

मानव-जीवन वेदी पर
परिणय है विरह मिलन का
दुख सुख दोनों नाचेंगे
है खेल आँख का मन का

वास्तव में सुख-दुख ममत्व का खेल है यदि मनुष्य अहंकार-भाव को मिटा दे तो उसके लिए न दुख रहता है और न सुख।

हो उदासीन दोनों से
दुख-सुख से मेल कराएँ
ममता की हानि उठा कर
दो रूठे हुए मनाएँ (आँसू)

यही गीता का भी उपदेश है। वास्तव में मनुष्य अहङ्कार को छोड़ दे तो सुख-दुख न रहे। संसार में सुख-दुख का मेल है। इसलिए सुख में दुख को भूलना नहीं चाहिए।

प्रसादजी का दुखवाद अतृप्त वासना का दुख नहीं है। सुख की अतिशयता स्वयं दुख में परिणत हो जाती है। मिलन मे विच्छेद लगा रहता है। जीवन में मृत्यु की छाया का स्मरण रहता है, इसीलिए एक के हर्षोल्लास में दूसरे को न भूलना चाहिए। प्रेम में कुछ मिलना होता ही नहीं है। प्रेम के अभाव को सारा संसार पुकार रहा है किन्तु प्रसादजी कहते हैं कि उसका पाना नहीं होता उसमें देना ही होता है।

जब उसकी स्थिति ही ऐसी है तब उसमें निराशा या असन्तोष के लिए कहाँ गुञ्जायश है।

पागल रे! वह मिलता है कब
उसको खो देते ही हैं सब
आँसू के कन-कन से गिन कर
यह विश्व लिए है ऋण उधार
तू क्यों फिर उठता है पुकार?
मुझको न मिला रे कभी प्यार।

प्रसादजी ईश्वर के सम्बन्ध में अज्ञेयवादी नहीं हैं। उनकी कविता में पूर्ण आस्तिकवाद की झलक है। इतना ही नहीं वे राम कृष्ण आदि के लिए भी बड़े श्रद्धा के भाव रखते हैं। कंकाल में वर्णित भारतसंघ के सम्बन्ध में कहे हुए स्वामी कृष्णशरण के वचनों मे उनके धार्मिक विचारों की कुछ झलक मिल सकती है। उन विचारों में धर्म के ढोंग और आडम्बर के लिए स्थान नहीं। वास्तव मे मानवता ही उनका धर्म मालूम पड़ता है। राम कृष्ण भी उसी मानवता की मूर्ति होने के कारण उपास्य बने थे। प्रसादजी अपनी कविताओं में तो शुद्ध द्वैतवाद की ओर झुके मालूम होते हैं, किन्तु नाटकों में अद्वैतवाद की झलक मिलती है—

हम सब में जो खेल कर रहा प्रति सुन्दर परछाईं-सा
आप छिप गया आकर हम में फिर हमको आकार दिया

पूर्णानुभव करता है जो 'अहमित' से नित सत्ता का
'तू मैं ही हूँ' इस चेतन का *प्रणवमध्य गुञ्जार किया*

प्रसादजी यह मानते हुए मालूम पड़ते हैं कि जो कुछ होता है ठीक होता है। यह बात जनमेजय के नाग-यज्ञ मे दिखलाई पड़ती है। जनमेजय के नागयज्ञ में वेदव्यासजी को नियतिवादी दिखलाकर प्रसादजी ने इस ओर अपना झुकाव दिखलाया है। यही नहीं कहा जा सकता कि स्वयं उनके विचार क्या हैं।

उनके धर्म में कर्मकाण्ड को एक गौण स्थान मिलता है। कामायनी में कर्म को श्याम चित्रित किया है। कर्म में वे हत्याकाण्ड के तो घोर विरोधी हैं। बलिदान के विरुद्ध उनके विचार स्थान-स्थान पर निकल पड़ते हैं। करुणालय में नरबलि के विरुद्ध बड़ी जोर की आवाज उठाई गई है। स्कन्दगुप्त में भी बलिदान का घोर-विरोध किया गया है। जनमेजय के नागयज्ञ में यज्ञों का युग समाप्त किया गया है। कामायनी में भी श्रद्धा और मनु का बलिदान के ऊपर ही मन मैला हुआ। इडा भी जन-संहार के सम्बन्ध में क्या सुन्दर उपदेश देती है—

"क्यों इतना आतंक ठहर जा ओ गर्वीले
जीने दे सबको फिर तू भी सुख से जी ले"

इस उपदेश को यदि इटैली और जापान वाले अपने हृदय में धारण कर सकें तो संसार का कितना कल्याण हो।

प्रसादजी के सामाजिक विचार बड़े उदार मालूम होते हैं। वर्ण व्यवस्था को वे मानते हैं किन्तु वे उसको दूसरों पर अत्या-

चार करने का साधन नहीं बनाना चाहते। वे स्वामी कृष्णशरण के मुख से कहलाते हैं—

"वर्ण भेद सामाजिक जीवन का क्रियात्मक विभाग है। यह जनता के कल्याण के लिए बना, परन्तु द्वेष की सृष्टि में, दम्भ को मिथ्या गर्व उत्पन्न करने में, यह अधिक सहायक हुआ है। जिस कल्याण-बुद्धि से इसका आरम्भ हुआ वह न रहा, गुण कर्मानुसार वर्णों की स्थिति नष्ट होकर, अभिजात्य के अभिमान में परिणत हो गई।"

स्त्रियों के अधिकारों के ये पूर्ण पक्षपाती हैं। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' में आप पूर्ण विश्वास रखते मालूम पड़ते हैं। ध्रुवस्वामिनी में नारी-सत्व का बड़ा ओजपूर्ण प्रतिपादन मिलता है। स्त्रियाँ पुरुष की सम्पत्ति नहीं हैं। वे दाम्पत्य सम्बन्ध को सहज में ठुकरा देने की वस्तु नहीं मानते किन्तु यदि पुरुष अपने उत्तरदायित्व को भूल जाय, माँगी हुई शरण न दे, अपना स्वेच्छाचार करें तो आपत्ति धर्म में स्त्रियाँ अपना पथ निश्चित कर सकती हैं। इसी के साथ-साथ वे स्वतन्त्र प्रेम के भी पक्षपाती नहीं मालूम पड़ते।

एक घूँट में स्वतन्त्र प्रेम के प्रचारक आनंदजी शरबत का एक घूँट पीकर विवाह के बन्धन में बँध जाते हैं।

प्रसादजी पारिवारिक जीवन में सब से हिल-मिल कर रहने और सम्मिलित परिवार के पोषक प्रतीत होते हैं। वे

सुखी परिवार का आदर्श अजातशत्रु मे किन सुन्दर शब्दो में वासवी के मुख से कहलाते हैं—

बच्चे बच्चो से खेलें, हो स्नेह बढ़ा उनके मन में,
कुल-लक्ष्मी हों मुदित, भरा हो मंगल उनके जीवन में।
बन्धुवर्ग हों सम्मानित, हो सेवक सुखी प्रणत अनुचर,
शान्तिपूर्ण हो स्वामी का मन, तो स्पृहणीय न हो क्यो घर ॥

प्रसादजी के राजनीतिक विचार बड़े उदार हैं। वे गांधीजी की भाँति राजनीति को धर्मनीति के आधीन रखना चाहते हैं। उनमें सन्तोप की मात्रा अधिक है जियो और जीन दो के मानने वाले मालूम होते हैं, किन्तु मान मर्यादा के साथ। मानहीन जीवन से तो मरना ही भला समझते हैं। वे मर जाने को तो अच्छा समझते हैं किन्तु संहार के विरोधी हैं।

महाराज अशोक की चिन्ता में इस बात को उन्होंने भली प्रकार बतलाया है—

दूरागत क्रन्दन-ध्वनि फिर, क्यो गूँज रही है अस्थिर
कर विजयी का अभिमान भग, यह महा दम्भ का दानव—
पीकर अनङ्ग का आसव—कर चुका महा भीषण रव
सुख दे प्राणी को मानव, तज विजय पराजय का कुढंग

वे इस महत्वाकाक्षा के पक्षपाती नहीं जिसमें संहार हो। वे राजाओं के अबाधित अधिकार के भी हिमायती नहीं। इला कहती है—

आह प्रजापति यह न हुआ है कभी न होगा,
निर्बाधित अधिकार आज तक किसने भोगा
× × × ×
लोक सुखी हो आश्रय ले यदि उस छाया में
प्राण सदृश तो रमो राष्ट्र की इस काया मे
ताल-ताल पर चलो नहीं लय छूटे जिसमें,
तुम न विवादी स्वर छेड़ो अनजाने इसमें।

कामना के भरतवाक्य में उन्होंने वतलाया है कि राजा को प्रजा से मिलकर रहना चाहिए।

प्रसादजी की रचनाओं में स्थल-स्थल पर सुन्दर विचार भरे पड़े हैं। वे आज कल के यन्त्रवाद के भी विरुद्ध मालूम होते हैं—

प्रकृत शक्ति तुमने यंत्रों से सब की छीनी
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।

विस्तार-भय से लेख को यहीं समाप्त करना पड़ता है। जीवन के लिए वे इच्छा क्रिया और ज्ञान का समन्वय चाहते हैं जिससे श्रद्धा के साथ मन रह सके—

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म दे,
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे;
दिव्य अनाहत पर निनाद मे
श्रद्धा युत मनु बसु तन्मय थे।

साहित्य-देवता प्रसाद !

सन् १६३७ का साल हिन्दी-साहित्य के लिए दिवालिया वर्ष है। उसका प्रेमचन्द जैसा धनी 'कायाकल्प' करते-करते 'गोदान' देकर 'कफन' ओढ़कर कर्बला में जा बसा। रामदास गौड़ की भी किसी 'हरसूब्रह्म' ने नहीं सुनी, वह 'विज्ञान' को हाथ में 'आँवले' की तरह देखता हुआ अन्तर्धान हो गया' और डा० जायसवाल हिन्दी के उस ईश्वरीय 'प्रसाद' को भी अनुसन्धान-कार्य के लिए साथ लिवा ले गए, जिसकी खोज में आज समस्त हिन्दी-भाषी-संसार आँखों को चार जल से धो-धोकर विवशता की बूँदें बहा रहा है। दोनों ही इतिहास का अनुशीलन करते-करते इतिहास का विषय बन गये। 'प्रसाद' की 'प्रासादिक' प्रतिभा आज किसमें पा सकते हैं? उनके उठ जाने से तो हिन्दी वास्तव में निर्धन हो गई है। ऐसी सर्वतोमुखी प्रतिभा वाला गम्भीर विद्वान् 'युग-पुरुष' ही था। उसका इतिहास काव्य, नाटक और कहानी के क्षेत्र में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व लिए हुए अमर रहेगा।

कलकत्ता कांग्रेस के समय में १ मास पूर्व बनारस चला गया था, उस समय मुझे उनके पुनीत दर्शन, और लगातार २० रोज तक घण्टों साहित्यिक-गोष्ठी का सहयोग लाभ प्राप्त हुआ था, मैं उस स्मृति को कभी भुला नहीं सकूँगा। कितने मधुर क्षण बीते हैं—मैं जीवन में उन दिनों को बहुत-बहुत महत्व के समझता हूँ। जबसे उनकी बीमारी का हाल सुना, और भाई 'नवीन' जी का 'प्रताप' में लेख पढ़ा, तब से दिल में एक अज्ञात आशंका ने घर कर लिया था, न जाने क्यों घबराहट-सी दिल में पैदा हो गई थी कि मानो वह हृष्ट पुष्ट, गभीर, स्मित वदन मूर्ति, धीरे-धीरे हम से अलग होती जा रही है। दर्शन के अवसर पर श्री 'प्रसाद' जी ने मुझे अपनी पत्रिका बतलाई थी, उसकी एक कॉपी मेरे पास थी, मैंने उसका विस्तृत गणित किया, और जितनी मेरी दृष्टि हो सक्ती थी, विचार किया। भाई नवीन जी और राय कृष्णदासजी के पास मैंने उनका पूरा—सर्वथा वैज्ञानिक विवरण भेज कर सावधानी की सूचना दी। उनके शरीर में किस धातु की कमी हो गई है, किस स्नायु की निर्बलता इस भयानक विकार को उत्पन्न करने में कारण हो गई है और किस प्रकार के उपचार से उनको लाभ मिल सकता है, तथा कब-कब यह स्थिति भयानक रूप धारण कर सकती है। किन्तु रायसाहब ने उन सूचनाओं पर ध्यान दिया या नहीं, पता नहीं, क्योंकि दो तीन पत्रों के उत्तर नहीं मिले। वर्ना वैद्य या डाक्टरों को भी यदि ज्ञात हो जाय कि

शरीर का अमुक भाग, अमुक, धातु, अमुकस्नायु विकृत है तो इसके किस प्रकार के इलाज की आवश्यकता है, और वह कब खतरनाक बनता है, तो उसे अपने उपचार में सहायता मिल सकती है। ज्योतिष-शास्त्र की उपयोगिता यही तो है। मैंने दीपमालिका के दिन पलटने वाले एक ग्रह की सूचना से खतरे की आशंका प्रकट की थी, यह भय मेरे सामने बारबार यूरोप में भी बना रहा है। 'इटली' में रहते-हुए मुझे उनके स्वास्थ्य के विषय में एक मित्र की सूचना मिली थी कि वे ठीक हो रहे हैं। कौन जानता था कि उनका वह गठा हुआ शरीर इतनी जल्दी निर्वाणोन्मुख हो जायगा। आज वह हिन्दी का तेजस्वी नक्षत्र असमय में ही हमारे दुर्भाग्य से टूट पड़ा, हमारे अभिमान का स्थान हमें निर्धन बना गया। हाय! आज हम किस मुँह से उसके नाम पर श्रद्धांजलि चढ़ाएँ! जीतेजी हमने उसको भी कम न कोसा, पुस्तकें तक लिखकर दिलका बुखार निकाला, उसकी धूल उड़ाने की चेष्टा की। पर वह गज-गम्भीर गति से अपने मार्ग पर चलता ही रहा, न डिगा, न उसने सुनने की परवाह की, वह वास्तव में 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' का पूरा अनुयायी रहा, और हाय! आज हमें अपने पर ही रोना आता है। वह तो अमर है। उसकी कृतियाँ अमर हैं।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में अपने युग का प्रतिनिधि बनकर सदा सुवर्ण वर्णों में संस्मरणीय रहेगा और हमारा स्वार्थी समाज राजनीतिक सत्ताधारियों को सरस्वती के पुनीत

सिंहासन पर बिठलाकर चापलूसी करता ही रहेगा, यह हमें उसी का दण्ड है कि एक-एक करके साहित्य-देवता हम से रूठते चले जा रहे हैं। क्या हमारी अब भी आँखें खुलेंगी?

प्रसादजी की कविता

कुछ दिनों के बाद रीतिकाल की विरोध-भावना भी रीति-ग्रस्त होगई। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार रीति-काल के कविन्द नायक, नायिका, रति, अभिसार, सापत्य आदि के घेरे में चक्कर लगाते रहते थे उसी प्रकार उनके विरोधी 'कवि-रत्न' भी देशभक्ति, जाति-सुधार, महाराणा-प्रताप आदि की स्तोत्र-रचना और उसके पाठ में मग्न रहे। हृदय का साहचर्य्य न होने के कारण उनकी देशभक्ति निष्प्राण थी। उसमें कवित्व नहीं था, उधर समय के प्रभाव-स्वरूप इन लोगों को सौन्दर्य से, एक प्रकार से, घृणा होगई थी। किसी प्रकार के भी सौन्दर्य, विशेषकर नारी-सौन्दर्य का सृजन, अश्लीलता समझी जाती थी। यह वह समय था जब हिन्दी के काव्यक्षेत्र पर कविराज पं० नाथूराम शंकर और साहित्याचार्य द्विवेदी जी का एकछत्र साम्राज्य था—जब छायावाद अंधकार के गहन स्तरों में पड़ा हुआ स्वप्न देख रहा था। उन्हीं दिनों आज से बहुत पहिले, जब छायावाद के देवदूत—पंत और निराला-

विद्यालयों में 'कागजी कुसुम' और 'सिगरेट के धुओं' से खेला करते थे, एक मनस्वी कलाकार अपनी रंगीन अद्भुत-प्रिय कल्पना और सौन्दर्य-विभोर स्वस्थ भावुकता की डोरियों से इस युग का ताना बाना बुन रहा था। यह कलाकार और कोई नहीं हमारे प्रसादजी ही थे जिनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा ने आज हिन्दी की प्रत्येक दिशा में दीपक-सा जला दिया है।

कविवर प्रसाद कवि, कहानी लेखक, नाटककार, उपन्यास प्रणेता सभी कुछ थे और सबसे पहिले थे कवि। उनकी कहानियाँ कटी-छटीं आख्यानमयी कविता ही तो हैं, उनके नाटक और उपन्यास भी कवित्व से परिपूर्ण हैं, परन्तु यहाँ हमें उनका विवेचन नहीं करना। यहाँ तो हमें उनके उसी साहित्यांश पर विचार करना है जो औरों से, कार्लायल के शब्दों में, उसी पुराने गँवारू भेद (Old Vulgar distinction) छन्द के कारण विभिन्न है। प्रसादजी ने अपने छोटे-से जीवन-काल में हिन्दी के काव्य-क्षेत्र को अमूल्य निधियों से आपूर्ण कर दिया। उनकी सात कविता-पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। १—महाराणा का महत्त्व, २—प्रेम-पथिक, ३—करुणालय, ४—झरना, ५—आँसू, ६—लहर, ७—कामायनी। इनके अतिरिक्त उनके सभी नाटकों में अनेकों रसीले गान भरे पड़े हैं। प्रसाद का अकेला काव्य-साहित्य एक परिमाण की दृष्टि से भी किसी से कम नहीं।

प्रसादजी की कविता का क्षेत्र

'जिस किसी ने प्रसादजी की कविता को एक बार भी पढ़ा होगा वह तुरन्त कह देगा कि उनकी कविता का मुख्य विषय प्रेम है। उनकी भावुकता ने अधिकतर प्रेम की परिधि में ही भांवरियां ली हैं।' वे संसार को प्रेममय मानते हैं—उनकी धारणा है कि—

मानव जीवन वेदी पर,
परिणय है विरह मिलन का
सुख-दुख दोनों नाचेंगे
है खेल आँख का मन का।

प्रेम के प्रसादजी ने सभी अंगों को स्पर्श किया है—उनका प्रेम न तो केवल अतीन्द्रिय एवं आध्यात्मिक प्रेम ही है और न इन्द्रिय-लिप्सा ही। उन्होंने ऐन्द्रिय प्रेम का बहिष्कार नहीं किया। स्वस्थ ऐन्द्रिय प्रेम एक प्राकृतिक आवश्यकता है जिसका हमारे भावुक कवि ने उचित रीति से समादर किया है। उनके चित्रों में, उनके भाव-जगत में ऐन्द्रियता का काफी मान है। वे 'आँख के खेल' को भी उतना ही अनिवार्य समझते हैं जितना 'मन के खेल को'। प्रसादजी को इस बात का अनुभव है कि जीवन में एक ऐसा समय आता है जब मनुष्य उन्मत्त होकर किसी को आत्म समर्पण करने के लिए आतुर हो उठता है और उसे यह सोचने का समय भी नहीं मिलता कि हृदय किसको देना है, उस समय तो—

प्रथम यौवन मदिरा से मत्त, प्रेम करने की थी परवाह
और किसको देना है हृदय, चीह्न ने की थी तनिक न चाह !

सुवासिनी के शब्दों में 'अकस्मात जीवन-कानन में एक राका रजनी की छाया में छिपकर मधुर वसन्त घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी-भरी हो जाती हैं। सौन्दर्य का कोकिल 'कौन' कह कर उसको रोकने-टोकने लगता है, पुकारने लगता है। × × × फिर उसी में प्रेम का मुकुल लग जाता है, आँसू भरी स्मृतियाँ मकरन्द-सी उसमें छिपी रहती हैं।

यह प्रेम-रूप आसक्ति है—आँख का खेल है। वृद्ध जग इसे कुछ भी कहे परन्तु युवक-जीवन में इसका एक विशेष महत्त्व है—

देखकर जिसे एक ही बार, हो गए हैं हम भी अनुरक्त
देख लो तुम भी यदि निज रूप, तुम्हीं हो जाओगे आसक्त।

यह रूप-आकर्षण विश्व भर में—समस्त जड़-चेतन में व्याप्त है। प्रसादजी कहते हैं कि संसार में यही एक मात्र परिचय का कारण है।

उषा का प्राची में आभास
सरोरुह का सर बीच विकास
कौन परिचय था क्या सम्बन्ध
गगन-मंडल में अरुण-विलास !

देखिए हमारे आदि पुरुष मनु की श्रद्धा का रूप-सौन्दर्य पान कर क्या दशा हुई थी। श्रद्धा की रूप-ज्वाला कैसी थी—

'नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ बन बीच गुलाबी रंग।

× × × ×

या कि नव इन्द्रनील लघु शृंग
फोड़कर धधक रही हो कांत,
एक लघु ज्वालामुखी अचेत,
माधवी रजनी में अश्रांत।

उसे देख कर तपस्वी मनु का मन एक साथ विचलित हो जाता है और वे कह उठते हैं—

कौन हो तुम बसन्त के दूत
विरस पतझड़ में अति सुकुमार!
घन-तिमिर में चपला की रेख
तपन में शीतल मंद बयार।
नखत की आशा किरण समान,
हृदय के कोमल कवि की कांत
कल्पना की लघु लहरी दिव्य
कर रही मानस हलचल शांत।

आगे वे ही मनु मनुहारें करते हैं—

कुचल उठा आनन्द, यही लज्जा है
बाधा दूर हटाओ

अपने ही अनुकूल सुखों को
मिलने दो मिल जाओ।"
'और एक फिर व्याकुल चुम्बन
रक्त खौलता जिससे
शीतल प्राण धधक उठता है
तृषा-तृप्ति के मिस से।

कवि के इस सौन्दर्य चित्रण और रूप-आसक्ति में एक जीवन है—एक उन्मादकारी कम्पन है जो भावुक हृदयों को विभोर कर देती है। सुनिए सुवासिनी गा रही है—

आज इस यौवन के माधवी-कुञ्ज में कोकिल बोल रहा!
मधु पीकर पागल हुआ करता प्रेम प्रलाप,
शिथिल हुआ जाता हृदय जैसे अपने आप!
लाज के बंधन खोल रहा!
विछल रही है चाँदनी, छवि मतवाली रात
कहती कम्पित अधर से बहकाने की बात
कौन मधु-मदिरा घोल रहा!

प्रसादजी की भावुकता यद्यपि अश्लीलता के अस्पृश्य तट को सदैव ही बचाती रही है' फिर भी कहीं-कहीं कुछ असंयत उद्गार उनके अनुरूप नहीं हुए हैं, उदाहरणार्थ—

लगाऊँगा छाती से आज
सुनो प्रियतम अब तुम्हें यहीं।

इसके अतिरिक्त एकाध स्थान पर फ़ारसी-काव्य का अस्वस्थ प्रभाव भी खटकता है। यथा--

'छिल-छिल कर छाले फोड़े'

किन्तु ऐसा उदाहरण उनकी प्रारम्भिक कृतियों में ही एकाध मिल जाता है।

इस रूप-मोह के अतिरिक्त 'मन के खेल' की भी व्यञ्जना बड़ी ही मधुर और मादक हुई है। एक प्रकार से यही रूप-मोह धीरे-धीरे मन की वस्तु हो जाता है--और प्रेमी प्रेम-पात्र के रूप का नहीं उसके व्यक्तित्व का पुजारी हो जाता है—इस प्रेम में ऐन्द्रियता नहीं होती--यह भावना-प्रधान (Ideal) प्रेम होता है। उर्मिला के शब्दों में—

'पहिले आँखों में थे, मानस में कूद मग्न प्रिय अब थे'।

--साकेत

इस प्रेम में प्रेमी अपने अस्तित्व को प्रेम-पात्र के अस्तित्व में मिला देता है—उसे अपनी कोई आकांक्षा नहीं रहती। तब तो बस यही 'अनुनय' रहता है कि—

क्रोध से, विषाद से, दया से, पूर्व प्रीति से ही ✓
किसी भी बहाने से तो याद किया कीजिए। 'झरना'

उस समय दशा बड़ी विचित्र होती है

"वाणी मस्त हुई अपने में उससे कुछ न कहा जाता
गद्गद् कण्ठ स्वयं सुनता है, जो कुछ है वह कह जाता।"

और प्रेमी आत्म-विस्मृत पूछ उठता है—

"जीवन-धन ! यह आज हुआ क्या, बतलाओ मत मौन रहो।
बाह्य वियोग, मिलन या मन का, इसका कारण कौन कहो।।"

यही प्रेम बढ़ते-बढ़ते आवेगपूर्ण हो जाता है और प्रेमी एक साथ चीत्कार कर उठता है—

चमकूँगा धूलि-कणों में
सौरभ हो उड़ जाऊँगा;
पाऊँगा कहीं तुम्हें तो
गृह-पथ में टकराऊँगा!

परन्तु इस प्रेम में आत्म निषेध की भावना सदैव रहती है— कभी-कभी प्रेमी अपनी असफलताओं को भी सफलता समझ लेता है और प्रेम-पात्र की करुणा में ही अपूर्व आह्लाद को अनुभव कर निकलता है—

औरों के प्रति प्रेम तुम्हारा, इसका मुझको दुःख नहीं,
जिसके तुम हो एक सहारा, वही न भूला जाय कहीं।
निर्दय होकर अपने प्रति, अपने को तुमको सौंप दिया
प्रेम नहीं करुणा करने को, क्षण भर तुमने समय दिया।

आगे चल कर यह प्रेम लोक-सीमा छोड़ कर अलौकिक—दिव्य हो जाता है। यह प्रसादजी का उद्देश्य प्रारम्भ में ही था—

'इस पथ का उद्देश्य नहीं है, शांत-भवन मे टिक रहना,
किन्तु पहुँचना उस सीमा तक जिसके आगे राह नही!!'

उनके इस दिव्य प्रेम के विषय में समालोचकों की दो सम्म-

तियाँ हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि प्रसादजी अदृष्ट से दृष्ट की ओर आए और दूसरों की धारणा है कि वे ज्ञात से अज्ञात की ओर गए। वास्तव में कवि ने राम-कृष्ण आदि की भक्ति-विषयक रचनायें भी की थीं परन्तु प्राधान्य उनमें रहस्यात्मक-भावनाओं का ही रहा; उनकी वृत्ति अज्ञात में ही अधिक रमी।

देखिए कवि को उस प्रियतम की झाँकी पहिली वार किस प्रकार से हुई।

> शशि-मुख पर घूंघट डाले
> अञ्चल में दीप छिपाए
> जीवन की गोधूली में
> कौतूहल से तुम आए।

इसी प्रकार एक बार आंख खोल देखो तो चन्द्रालोक से

> रञ्जित कोमल बादल नभ में छागए
> जिस पर पवन सहारे तुम ही आ रहे।

धीरे धीरे यह नशा इतना व्यापक होजाता है कि कवि को संसार में सर्वत्र ही उस अपूर्व रूप के दर्शन होने लगते हैं—

> जल-थल मारुत व्योम में छाया है सब ओर
> खोज-खोज कर खोगई मैं पागल प्रेम-विभोर।

कवि बार-बार समझने का प्रयत्न ,करता है, आखिर यह सब वैभव किसका है—

> "महानील इस परम व्योम में
> अंतरिक्ष में ज्योतिर्मान

ग्रह नक्षत्र और विद्युत कण
किसका करते-से संधान !

× × × ×

छिप जाते हैं और निकलते
आकर्षण में खिंचे हुए

× × × ×

सिर नीचाकर किसकी सत्ता
सब करते स्वीकार यहाँ
सदा मौन हो प्रवचन करते
जिसका वह अस्तित्व कहाँ ?

परन्तु अंत में वह यही कह कर चुप रह जाता है।

'हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ?
यह मैं कैसे कह सकता
कैसे हो, क्या हो, इसका तो
भार विचार न सह सकता।
हे विराट हे विश्वदेव तुम
कुछ हो ऐसा होता भान !"

एक समय था जब आत्मा और परमात्मा सम्बद्ध थे—एकाकार थे। अब दोनों पृथक हैं परन्तु आत्मा को उस महा-मिलन का पूर्ण ज्ञान है—वह कहता है—

यह सब स्फुलिंग है मेरी
उस ज्वालामयी जलन के

कुछ शेष चिह्न हैं अब भी
मेरे उस महामिलन के।

कहीं कहीं अद्वैतवाद अधिक स्पष्ट होजाता है—

सकल निधियों का वह आधार
प्रमाता सकल विश्व का सत्य
लिए सब अपने बैठा पास
उसे आवश्यकता ही नहीं।

परन्तु वास्तव में उनमे द्वैतभावना का ही परिचय अधिकतर मिलता है उनके उद्‌गार भक्ति-विषयक ही प्रायः होते हैं। कवि की अनुनय, विनय, रूप-दर्शन, समर्पण आदि की भावनाओं में भक्ति का ही संदेश है।

'प्रार्थना अंतर की मेरी, जन्म हो निरखूँ तव सौन्दर्य,
यही जन्मान्तर की हो ऽक्ति, मिले इंगित से जीवन मुक्ति।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसादजी ने प्रेम नामक मनोवृति की पूर्ण व्यञ्जना की है—उसके सभी रूपों को अपनाया है। पं० कृष्णशंकर शुक्ल के शब्दो में 'यह प्रेम अलौकिक अवलम्बन का आश्रय ग्रहण कर भक्ति में परिवर्तित हो जाता और लौकिक आलम्बन पर स्थित हो रतिभाव के अनुकूल पड़ता हुआ चलता है।' प्रसादजी की प्रेमव्यञ्जना में एक अपूर्व उन्माद और कम्पन है—उसमें एक ज्वालामुखी जलता है—उसमें एक कसक है, वेदना का तीव्र दंशन है। प्रसादजी की भावुकता व्यापक है वह संसार को अपना समभागी समझती है—

धरणी दुख माँग रही थी
आकाश छीनता सुख को
अपने को देकर उनको
मैं देख रहा उस मुख को।

परन्तु यह वेदना प्रेम की मीठी वेदना है, निराशा की कठोर यंत्रणा नहीं। घोर मानसिक व्यथा सहने पर भी कवि आश्वासन देता है—

'पड़ रहे पावन प्रेम फुहार, जलन कुछ कुछ है मीठी पीर
सम्हाले चल कितनी है दूर, प्रलय तक व्याकुल हो न अधीर!

क्योंकि उसे पूर्ण आशा है कि—

'चेतना लहर न उठेगी
जीवन समुद्र थिर होगा,
सन्ध्या हो सर्ग प्रलय की
विच्छेद मिलन फिर होगा।

और इसीलिए वे प्रेम की मङ्गलकरी शक्ति में विश्वास करते हुए कहते हैं कि—

घने प्रेम तरु तले
बैठ छाँह लो भव-आतप से तापित और जले।
छाया है विश्राम की, श्रद्धा सरिता कूल।
सिंची आँसुओं से मृदुल है परागमय धूल!

प्रसादजी और प्रकृति

आरम्भ में यही प्रेम तत्व प्रसादजी को प्रकृति की ओर

उषा सुनहले तीर बरसती, जयलक्ष्मी-सी उदित हुई;
उधर पराजित काल-रात्रि भी, जल में अंतर्निहित हुई!
वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का, आज लगा हँसने फिर से;
वर्षा बीती, हुआ सृष्टि में शरद-विकास नया सिर से।
नव कोमल आलोक बिखरता, हिम संसृति पर भर अनुराग!
सित सरोज पर क्रीड़ा करता, जैसे मधुमय पिंग-पराग!!

× × × ×

नेत्र निमीलन करती मानों, प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने।
जलधि-लहरियों की अँगड़ाई, बार-बार जाती सोने!!
सिंधु-सेज पर धरा-वधू अब, तनिक संकुचित बैठी-सी;
प्रलय-निशा की हलचल-स्मृति में, मान किए सी ऐंठी-सी!

काम के प्रभाव से मानव-जगत ही नहीं प्राकृतिक जगत भी आकुलित हो उठता है। कवि कहता है—

जब लीला से तुम सीख रहे
कोरक कोने में लुक रहना
तब शिथिल सुरभि से धरणी में
विछलन न हुई थी? सच कहना!!

अथवा

भुज-लता पड़ी सरिताओं की
शैलों के गले सनाथ हुए
जलनिधि का अञ्चल व्यजन बना
धरणी का, दो-दो साथ हुए।

उनकी प्रकृति-विषयक अनुभूति कितनी प्रखर है इसका एक उदाहरण लीजिए—कामायनी में मनु रात्रि से कहते हैं—

किस दिगंत रेखा में इतनी
संचित कर सिसकी सी साँस
यों समीर मिस हाँफ रही-सी
चली जा रही किसके पास !

सायँ-सायँ करती हुई नीरव रात्रि का वर्णन कितना सच्चा और भावपूर्ण उतरा है। प्रसादजी के प्रकृति-चित्रों में मधु और माधुरी का स्रोत बह रहा है। उनमें सोना-चाँदी, गुलाली और नीलिमा की अपूर्व छटा है। उनके चित्र मुसकराते नहीं, हँसते हैं—उनमें सभी में एक आकुल कम्पन है।

मधु बरसती विधु-किरन है काँपती सुकुमार।

उन्होंने यद्यपि प्रकृति के सुन्दर रूप का ही अंकन अधिक किया है—परन्तु उनका सुन्दर विराट भी है। उनके चित्रों में विस्तार है, व्यापकता है, और गौरव-गरिमा की भावना है। देखिए प्रलय का दृश्य,

लहरें व्योम चूमने उठतीं
चपलाएँ असंख्य नचतीं
गरल जलद की खड़ी झड़ी, में
बूँदें निज संसृति रचतीं।
चपलाएँ उस जलधि-विश्व में
स्वयं चमत्कृत होती थीं

ज्यों विराट वाड़व-ज्वालाएँ
खंड खंड हो रोती थीं।

प्रसादजी की रहस्य-भावना कभी कभी प्रकृति में प्रियतम का प्रतिबिम्ब भी देखकर मग्न हो जाया करती है। उसे अनुभव होता है।

'छायानट छवि-परदे में
सम्मोहन बीन बजाता
सन्ध्या-कुहुकिन-अञ्चल मे
कौतुक अपना कर जाता!

सारांश यह है कि प्रसादजी ने "प्राकृतिक वस्तु का प्रेम तत्व से सम्मिश्रण करके, प्रकृति पुरुष का संयोग का मंथन कराया है और प्रकृति की विस्तृत विभिन्नता को प्रेम तत्व से सन्निहित करके देखा है। उनके प्रारम्भिक प्रकृति चित्र सांकेतिक अधिक होते थे। अतः उनका तो इतना महत्व नहीं परन्तु जहाँ इन दोनों का (प्राकृतिक वस्तु और प्रेम तत्व का उचित सामञ्जस्य हुआ है वहाँ प्रसादजी का काव्य अत्यन्त मानवीय और उन्नत हो उठा है।"

कवि ने प्रकृति का साधारण रूप में कभी वर्णन नहीं किया है—उनका हृदय सदैव उसे मानवी भावनाओं से आकुलित अनुभव करता रहा है। हाँ, प्रकृति का आपने अपनी अलकार सामग्री के लिए उपयोग सदैव किया है प्रकृति प्रसादजी के अलंकार उपकरणों की अक्षय निधि है। "पुष्पों की पंखड़ियों के

सुकुमार कपन, पुष्करिणी के कमल दल की उल्लासपूर्ण क्रीड़ाएँ पक्षियों के विविध क्रीड़ा कौतुक, उषा की स्निग्ध अरुणिमा आदि प्राकृतिक रमणीय उपादान आपके अप्रस्तुत विधान में सहायक होते हैं। आपके भावक्षेत्र की परिधि का विस्तार इतना अधिक होता है कि प्राकृतिक रमणीय दृश्यों में से साम्य की प्रतिष्ठा के लिए सामग्री प्रस्तुत करते समय आपको कजूसी नहीं करनी पड़ती। एक एक प्रसग प्राप्त दृश्य के लिए अनेक रमणीय अप्रस्तुत आकर खड़ हो जाते हैं। कामायनी की श्रद्धा के रूप-वर्णन में प्राकृतिक वैभव का विलास है, उसके एक एक सौन्दर्य्यावयव के वर्णन के लिए कवि प्रकृति का राशि राशि रूप-विभव एकत्रित कर देता है। श्रद्धा की मुसकान माधुरी देखिये—

> और उस मुख पर वह मुसकान!
> रक्त किसलय पर ले विश्राम
> अरुण की एक किरण अम्लान
> अधिक अलसाई हो अभिराम!!

छवि का विलास कितना मादक है। अमूर्त भावनाओं की व्यञ्जना के लिए प्रसादजी के पास प्राकृतिक उपकरणों का अक्षय भण्डार है। देखिए विषाद का चित्रण आपने किस प्रकार प्राकृतिक उपमानों के सहारे किया है—

> कौन प्रकृति के करुण काव्य सा, वृक्ष पत्र की मधु छाया में।
> लिखा हुआ सा अचल पड़ा है, अमृत सदृश नश्वर काया में॥

अखिल विश्व के कोलाहल से, दूर सुदूर निभृत निर्जन में।
गोधूली के मलिनाञ्चल में, कौन जंगली बैठा वन में॥

वही प्रेमतत्व जीवन के कठोर आघातों से विरक्ति का भाव धारण करता गया और कवि 'शून्य हृदय में प्रेम-जलद-माला कब फिर घिर आवेगी' कहता कहता एक साथ पुकार उठा 'सकल कामना स्रोत लीन हो पूर्ण विरति कब पावेगी।' यह विरक्ति की भावना कवि के आशावाद में किसी प्रकार का असामञ्जस्य उत्पन्न नहीं करती। ऐसे क्षण मनुष्य के जीवन में सदैव आया करते हैं जब वह विम्बसार की भाँति सोच उठता है—

चञ्चल सूर्य, चन्द्र है चञ्चल,
चपल सभी ग्रह तारा हैं।
चञ्चल अनिल, अनल जल थल सब,
चञ्चल जैसे पारा हैं।
जगत-प्रगति से, अपने चञ्चल
मन की चञ्चल लीला है।
प्रतिक्षण प्रकृति चञ्चला जैसी
यह परिवर्तनशीला है।

× × × ×

क्षणिक सुखों को स्थायी कहना,
दुःख मूल यह भूल महा।

चञ्चल मानव क्यों भूला तू
इस माटी में सार कहाँ ?

वास्तव में वैराग्य ही जीवन की चरम परिणति है—परन्तु निषेधात्मक (Negative) वैराग्य नहीं, साधनात्मक वैराग्य जिसका दूसरा नाम विश्वप्रेम और मूलमन्त्र करुणा है। करुणा का चमत्कार प्रसादजी के शब्दों में ही सुनिये—

'गोधूली के रागपटल में स्नेहाञ्चल फहराती है।
स्निग्ध उषा के शुभ्र गगन में हास विलास दिखाती है॥
मुग्ध मधुर बालक के मुख पर चन्द्रकान्ति बरसाती है।
निर्निमेष ताराओं से वह ओस-बूँद भर लाती है॥
निष्ठुर आदि सृष्टि पशुओं की विजित हुई इस करुणा से।
मानव का महत्व जगती पर फैला अरुणा करुणा से॥

यही जहाँ तक मैं समझ सका हूँ प्रसादजी के दर्शन का सारतत्व है और उन्हें यह करुणा और विश्व-प्रेम की भावना कदाचित् बौद्ध-दर्शन के मनन से प्राप्त हुई है। मैंने अभी संकेत किया कि प्रसादजी दार्शनिक कवि हैं। यह इसीलिए नहीं कि उनका अपना एक दर्शन विशेष है। परन्तु इसलिए कि वे विचार-प्रधान कवि हैं। जीवन के गहनतम विचार उनकी रचनाओं में स्थान-स्थान पर गुम्फित रहते हैं। उनकी कामायनी में तो इसका परम विकास मिलता है। वास्तव में महाकवियों की गौरव-कसौटी उनकी भाषा, उनकी अलंकरण-सामग्री, और उनकी कोरी भावुकता नहीं, वरन्

जीवन के चिरन्तन संघर्षों और राग विरागों को पहिचानने और सुलझाने की उनकी शक्ति ही है। इसी कारण बाल्मीकि शेक्सपीयर, गेटे, तुलसी, टैगोर आदि-आदि विश्व-वन्द्य महाकवि हैं। प्रसादजी ने जीवन के इन विश्वव्यापी संघर्षों को समझा है, उनकी गहन विवेचना की है। विश्व क्या है इसका गम्भीर विवेचन मनु से सुनिये—

यह नीड़ मनोहर कृतियों का
यह विश्व कर्म रङ्ग-स्थल है;
है परम्परा लग रही यहाँ
ठहरा जिसमें जितना बल है।
वे कितने ऐसे होते हैं,
जो केवल साधन बनते हैं
आरम्भ और परिणामों के
सम्बन्ध सूत्र से बुनते हैं।

जीवन की समस्या पर जब मनु अटक जाते हैं और कहने लगते हैं—

किन्तु जीवन कितना निरुपाय ! लिया है देख नहीं सन्देह।
निराशा है जिसका परिणाम, सफलता का वह कल्पित गेह।

तो श्रद्धा की शीतल वाग्धारा कातर विश्व को आश्वासन देती है।

"जिसे तुम समझे थे अभिशाप

× × × ×

विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पन्दित विश्व महान
यही सुख-दुख विकास का सत्य,
यही भूमा का मधुमय दान।

× × × ×

'तप नहीं केवल जीवन सत्य, करुण यह क्षणिक दीन अवसाद;
तरल आकांक्षा से है भरा, सो रहा आशा का आह्लाद।

आगे चलकर श्रद्धा ने जो भाव, कर्म, और ज्ञान तीनों क्षेत्रों की भावपूर्ण व्याख्या की है वह दिव्य है, अभूतपूर्व है जो प्रसाद जी को एक दम विश्व-कवियों में स्थान दिला देती है। इन मनस्तत्त्वों का इतना कवित्व-पूर्ण वर्णन संसार-साहित्य में कदाचित् ही कहीं मिले। यहाँ दर्शन और कविता का सामञ्जस्य पूर्ण रूप से हुआ है। कवि की सांकेतिक काव्य सामग्री और मूर्त्ति-विधायिनी कल्पना ने अरूप में एक साथ दिव्य रूप भर दिया है।

देखिये आपके सन्मुख वही भाव-क्षेत्र दिखाई पड़ रहा है—
'यह देखो रागारुण है जो, ऊषा के कन्दुक-सा सुन्दर;
छायामय कमनीय कलेवर, भावमयी प्रतिमा का मन्दिर।'
'शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध की, पारदर्शिनी सुघड़ पुतलियाँ;
चारों ओर नृत्य करतीं ज्यों रूपवती रंगीन तितलियाँ।'

× + × ×

'घूम रही है यहाँ चतुर्दिक, चल चित्रों-सी संसृति छाया;
जिस आलोक बिन्दु को घेरे, वह बैठी मुसक्याती माया।
भाव-चक्र यह चला रही है, इच्छा की रथ-नाभि घूमती;
नवरस भरी अराएँ अविरल, चक्रवाल को चकित चूमतीं।
यहाँ मनोमय विश्व कर रहा, रागारुण चेतन उपासना;
माया-राज्य ! यही परिपाटी, पाश बिछाकर जीव फँसना।

× × × ×

भाव भूमिका इसी लोक की, जननी है सब पाप-पुण्य की;
ढलते सब स्वभाव प्रतिकृति बन, गल ज्वाला से मधुर ताप की।

एक झाँकी श्यामल कर्म लोक की देख लीजिये—

"मनु, यह श्यामल कर्मलोक है, धुँधला कुछ-कुछ अंधकार-सा;
सघन हो रहा अविज्ञात यह देश मलिन है धूमधार-सा।

× × × ×

श्रममय कोलाहल, पीड़न-मय, विकल प्रवर्त्तन महायन्त्र का;
क्षण भर भी विश्राम नहीं है, प्राण दास है क्रिया तन्त्र का।

× × × ×

नियति चलाती कर्म-चक्र यह, तृष्णा जनित ममत्व वासना;
पाणिपाद मय पंच-भूत की, यहाँ हो रही है उपासना।
यहाँ सतत संघर्ष, विफलता, कोलाहल का यहाँ राज है;
अंधकार में दौड़ लग रही, मतवाला यह सब समाज है।

उपरोक्त वर्णन में कवि ने आधुनिक संसार के संघर्ष की सजीव व्याख्या की है जो स्वयं बोल रही है।

आगे ज्ञानलोक की आभा है—

"प्रियतम ! यह तो ज्ञान-क्षेत्र है, सुख-दुख से है उदासीनता;
यहाँ न्याय निर्मम, चलता है, बुद्धि-चक्र जिसमें, न दीनता।
अस्ति नास्ति का भेद, निरंकुश, करते ये अणु तर्क युक्ति से;
ये निस्संग, किन्तु कर लेते, कुछ सम्बन्ध-विधान मुक्ति से।

\+ + + +

अपना परिमित पात्र लिये ये, बूँद-बूँद वाले निर्झर से;
माँग रहे हैं जीवन का रस, बैठ यहाँ पर अजर-अमर से।

\+ + + +

यहाँ अछूत रहा जीवन रस, छूओ मत संचित होने दो;
बस इतना ही भाग तुम्हारा, तृषा ! मृषा, वंचित होने दो।

अन्त में इस त्रिपुर का दाह श्रद्धा की स्मित ज्वाला के द्वारा कराकर कवि इस विषम समस्या को हल कर देता है। वास्तव में मनु और श्रद्धा की इस कहानी में मानव जीवन के मनस्तत्त्व की विवेचना पूर्ण रूप से हुई है और श्रीनन्ददुलारे के शब्दों में 'मानस का ऐसा वास्तविक विश्लेषण और काव्यमय निरूपण हिन्दी में शायद शताब्दियों बाद हुआ है।'

जो कुछ अब तक प्रेम-प्रकृति, और दर्शन के विषय में कहा गया है, उससे प्रसादजी की भावुकता पर थोड़ा बहुत प्रकाश अवश्य पड़ा होगा। परन्तु हमारे कवि की भावुकता इतने में ही समाप्त नहीं हो जाती। उसका क्षेत्र विस्तृत है। यहाँ अधिक न कह कर इस विषय के दो तीन उदाहरण ही देना

पर्याप्त होगा। कामायनी में एकाध स्थान पर वात्सल्य की भी बड़ी मधुर व्यञ्जना हुई है—

"माँ"—फिर एक किलक दूरागत गूँज उठी कुटिया सूनी,
माँ उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कण्ठा दूनी;
लुटरी खुली अलक, रज धूसर बाहें आकर लिपट गईं,
निशा तापसी की जलने को धधक उठी बुझती धूनी!

\+ \+ \+ \+

"मैं रूठूँ माँ और मना तू, कितनी अच्छी बात कही,
ले मैं सोता हूँ अब जाकर, बोलूँगा मैं आज नहीं;
पके फलों से पेट भरा है नींद नहीं खुलने वाली।"
श्रद्धा चुम्बन ले प्रसन्न कुछ, कुछ विषाद से भरी रही।

एक उदाहरण कवि की देशभक्ति भावना का और देखकर इस प्रसंग को समाप्त करता हूँ। प्रसादजी भारतवर्ष के अतीव गौरव के पुजारी थे। उनकी रचनाओं में जातीयता और देश प्रेम की भावनाएँ ओत-प्रोत मिलती हैं उनकी आत्मा अपने मातृभूमि के शब्दों में प्राय' गाया करती है—

"हिमालय के आगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार
उषा ने हँस अभिनन्दन किया, और पहनाया हीरक हार!
जगे हम लगे जगाने विश्व, लोक में फैला फिर आलोक
व्योम तम पुञ्ज हुआ तब नाश, अखिल संसृति हो उठी अशोक!
विमल वाणी ने वीणा ली, कमल-कोमल कर में सप्रीत
सप्त स्वर सप्त सिंधु में उठे, छिड़ा तब मधुर साम-संगीत!

\+ \+ \+ \+

वही है रक्त वही है देश, वही साहस है वैसा ज्ञान,
वही है शांति वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य-संतान
जिएँ तो सदा इसी के लिए, यही अभिमान रहे यह हर्ष
निछावर कर दें हम सर्वस्व हमारा प्यारा भारतवर्ष ?

कला

प्रसादजी जैसा कि मैं पूर्व ही निवेदन कर चुका हूँ स्रष्टा हैं, वे मौलिक कलाकार हैं; दूसरों के निर्दिष्ट पथ पर चलना उन्हें कभी पसन्द नहीं आया और प्रारम्भ से उन्होंने अपनी सृजनात्मक *कल्पना, अंतर्मोहिणी भावुकता, और रंगीन दृष्टि द्वारा* अपना एक नवीन पथ निर्माण किया है। उनकी कला, उनकी शैली अपनी ही है। प्रसादजी की कला की अन्य सभी महान कवियों की भाँति सबसे प्रमुख विशेषता उनकी चित्रमयता है। उनकी कल्पना इतनी रंगीन एवं अन्वीक्षणी-शक्ति इतनी सजग होती है कि प्रत्येक भावना और प्रत्येक वस्तु का चित्र उनके मन पर स्पष्ट रूप से उतर आता है जिसको वे अपनी कुशल व्यञ्जना शक्ति और चित्रभाषा की सहायता से ज्यों का त्यों चित्रित कर देते हैं। सादजी के काव्य में अनेकों चित्र भरे पड़े हैं। 'उनकी रेखाएँ पुष्ट और वर्णों के विकास भास्वर हैं'। साथ ही उनमें वैज्ञानिक सूक्ष्मता भी सदैव मिलेगी— देखिये एक चित्र बढ़ती हुई अंधेरी का—

वरुण व्यस्त थे घनी कालिमा
स्तर स्तर जमती पीन हुई।

उनके मानवीय चित्रों में भी यही बात है। आदि पुरुष मनु का पौरुषमय चित्र लीजिये—

अवयव की दृढ़ माँस पेशियाँ, ऊर्जस्वित था वीर्य अपार,
स्फीत शिरायें, स्वस्थ रक्त का, होता था जिनमें संचार।
चिन्ता कातर वदन हो रहा, पौरुष जिसमें ओत-प्रोत,
उधर उपेक्षामय यौवन का बहता, भीतर मधुमय स्रोत।

आगे श्रद्धा के मुखमण्डल की आभा है—

आह! वह मुख पश्चिम के व्योम
बीच जब घिरते हों घनश्याम;
अरुण रवि-मण्डल उनको भेद,
दिखाई देता हो छविधाम।

यही श्रद्धा गर्भालसा होकर कैसी हो जाती है—

केतकी-गर्भ-सा मुख पीला
आँखों में आलस भरा स्नेह
कुछ कृशता नई लजीली थी
कंपित लतिका-सी लिये देह!
मातृत्व बोझ से झुके हुये
बँध रहे पयोधर पीन आज;
कोमल काले ऊनों की नव
पट्टिका बनाती रुचिर साज।

प्रसाद जी की कल्पना साधारण-से-साधारण वस्तु का अंकन कितने वैभव के साथ कर देती है इसका एक उदाहरण

देखिये—श्रद्धा तकली घुमाती हुई काली ऊन की पट्टी बना रही है—कवि उसका वर्णन करता है—

'सोने की सिकता में मानो
कालिन्दी बहती भर उसास
स्वर्गंगा में इन्दीवर की
या एक पंक्ति कर रही लास।

इसी प्रसंग में एक छवि इड़ा के सांकेतिक चित्र की भी अवलोकन कर लीजिये। कवि की सांकेतिक पदयोजना द्वारा इड़ा का चित्र अत्यन्त सजीव और मूर्तिमान हो गया है—यहाँ पर उसकी कल्पना की मूर्तिविधायिनी शक्ति की क्रीड़ा देखिये—

बिखरी अलकें ज्यों तर्कजाल
वह विश्व-मुकुट-सा उज्ज्वलतम शशि-खंड सदृश था स्पष्ट भाल,
दो पद्म पलाश चिषक-से दृग देते अनुराग विराग ढाल,
गुञ्जरित मधुप-से मुकुल सदृश वह आनन जिसमें भरा गान,
वक्षस्थल एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान-ज्ञान,
था एक हाथ में कर्म-कलश वसुधा जीवन रस-सार लिए,
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलम्ब दिए,
त्रिवली-सी त्रिगुण तरंगमयी, आलोक वसन लिपटा अराल,
चरणों में थी गति भरी ताल।

अमूर्त भावनाओं का भी कुशल कलाकार ने स्थान-स्थान पर बड़ा सजीव अंकन किया है। लज्जा का वर्णन कवि करता है।

वैसी ही माया में लिपटी
अधरों पर उंगली धरे हुए,
माधव के सरस कुतूहल का
आँखों में पानी भरे हुए।

× × × ×

किन इन्द्रजाल के फूलों-से
ले कर सुहाग कण राग भरे
सिर नीचा कर हो गूँथ रही
माला जिससे मधु धार ढरे।

इस प्रकार की (Myth Making) मूर्ति निर्माण विधि का प्रयोग कवि ने स्थान-स्थान पर किया है। झरना में 'विषाद' का चित्र भी ऐसा ही है। यह विशेषता अंग्रेजी कवि शैली में प्रमुख रूप से पाई जाती है। उन्होंने भी ऐसे अनेकों चित्र खींचे हैं। शीतकाल का वर्णन उनका ऐसा ही है—

For winter came The wind was his whip
One choppy finger was on his lip

× × × ×

इनमें भाषा की व्यञ्जनाशक्ति और मूर्तिमत्ता की सहायता रहती है। निम्नलिखित पंक्तियों में मूर्त चित्र द्वारा सौन्दर्य की विभूतियों का वर्णन व्यंग्य है।

तुम कनक किरन के अन्तराल में,
लुक छिप कर चलते हो क्यों?

नत मस्तक गर्व वहन करते,
यौवन के घन रस कन ढरते—
हे लाज भरे सौन्दर्य्य बता दो,
मौन बने रहते हो क्यों ?
अधरों के मधुर कगारों में,
कल-कल ध्वनि की गुंजारों में,
मधु सरिता-सी यह हँसी तरल,
अपनी पीते रहते हो क्यों ?

इन पूर्ण चित्रों के अतिरिक्त प्रसादजी के काव्यों में रेखा-चित्र अथवा शब्द-चित्र भी अनेकों बिखरे मिलेंगे। इनमें चित्र व्यक्त नहीं व्यंग्य होंगे अर्थात् शब्दों-द्वारा उसका अंकन तो नहीं होगा परन्तु फिर भी वस्तु का चित्र मन पर स्पष्ट उतर आएगा। दो एक का अवलोकन कीजिए—

१—निर्जन गोधूली-प्रान्तर में, खोले पर्ण-कुटी के द्वार।
दीप जलाए बैठे थे तुम, किए प्रतीक्षा पर अधिकार।

यहाँ 'दीप जलाए बैठे थे'—और 'किए प्रतीक्षा पर अधिकार' इन दो वाक्यांशों द्वारा पाठकों के मन पर सुनसान बीहड़ में बैठे हुए व्याकुल चित्त किन्तु बाहर से शांत और संयत वियोगी का चित्र साफ़ प्रतिबिम्बित हो जाता है।

२—'कालिमा घुलने लगी घुलने लगा आलोक' इस एक रेखा से प्रसादजी ने हटते हुए बादलों और निखरती हुई चाँदनी का कितना स्पष्ट चित्र खींच दिया है।

एक शब्द-चित्र (One word-Picture) भी उनके काव्य में स्थान-स्थान पर जड़े हुए मिलेंगे। प्रलय की आँधियों का एक चित्र देखें—

अरी आंधियो ! ओ विजली की
दिवा-रात्रि ! तेरा नर्तन !

विजली की दिवा-रात्रि ! चित्रोपमता की पराकाष्ठा है !

सचित्र विशेषण इस युग की काव्य-कला की एक विशेषता है। कविवर पंत में इस कला का चरम विकास मिलता है। प्रसादजी के विशेषण भी बड़े ध्वनिमय, व्यञ्जक और सचित्र हैं। उनमें भाषा की शक्ति और कल्पना का संयम मिलता है। चिंता के कुछ विशेषण लीजिए—

ओ चिन्ता की पहिली रेखा!
अरे विश्व-वन की व्याली!
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण
प्रथम कम्प-सी मतवाली !
हे अभाव की चपल बालिके,
री ललाट की खल लेखा !

\+ + + +

अरी व्याधि की सूत्र-धारिणी !

× × × ×

नक्षत्र के लिए कवि ने 'तम के सुन्दरतम रहस्य !' 'अनन्त की गणना' आदि बड़े भव्य विशेषण दिए हैं। इसी प्रकार

रजनी का 'इन्द्रजाल-जननी !' विशेषण कितना व्यञ्जनापूर्ण है। ये विशेषण कहीं तो चित्रमय होते हैं, जैसे 'बिजली की दिवा-रात्रि !' कहीं कल्पना-प्रधान, जैसे उपर्युक्त समस्त उदाहरणों में—और कहीं भावुकता की विभूति होते हैं—जैसे मनु श्रद्धा से कह उठते हैं '(कौन हो तुम इसी भूले हृदय की चिर खोज !') मनु का हृदय एकाकीपन के भार से आक्रांत था, उसमें एक विप्लव था जो किसी शीतल वाग्धारा की खोज में था। श्रद्धा को उन्होंने इसी रूप में पाया। भावुकता कितनी संकेतपूर्ण है।

अब एक दृष्टि-पात प्रसादजी की अप्रस्तुत योजना पर और कर लिया जाय। प्रसादजी का प्रकृति-निरीक्षण बड़ा विस्तृत है—उनकी अलंकरण-सम्पत्ति बड़ी विशद है। वे प्राकृतिक क्षेत्र से नवीन-से-नवीन उपमानों का बिना किसी कठिनता के चयन कर लेते हैं—साथ ही प्राकृतिक व्यापारों का भी उनके अप्रस्तुत विधान में काफी योग है। इसका विवेचन पहिले ही कर चुका हूँ। प्रसादजी ने प्राचीन और नवीन, पौर्वात्य और पाश्चात्य विधियों का सुन्दर समन्वय किया है। दो एक उपमाओं के नमूने देखिए। मनु कहते हैं—

१—आज अमरता का जीवित हूँ
मैं वह भीषण जर्जर दम्भ,
आह सर्ग के प्रथम अंक का
अधम पात्रमय-सा विष्कम्भ !

२—किरण की उपमाएँ कितनी व्यञ्जक हैं—

धरा पर झुकी प्रार्थना-सदृश,मधुर मुरली-सी फिर भी मौन,
किसी अज्ञात विश्व की विकल वेदना दूती-सी तुम कौन!
३—प्रतिमा में सजीवता-सी बस गई सुछवि आँखों में।

कहीं-कहीं शैली की भाँति प्रसादजी मूर्त वस्तुओं के स्पष्टीकरण के लिए अमूर्त उपमाएँ प्रस्तुत करते हैं—

'बढ़ने लगा विलास-वासना-सा, वह नीरव जल संघात!'

निम्न पंक्तियों में रूपक का बड़ा ही सचित्र प्रयोग हुआ है। उसमें कवि की चित्र-ग्राहिणी कल्पना का महत्त्व प्रकट होता है—साथ ही श्लेष, उपमा, रूपक आदि का प्रयोग भी पुरानी दृष्टि से श्लाघ्य है!

समय-विहग के कृष्ण-पक्ष में रजत-चित्र-सी अंकित कौन
तुम हो सुन्दरि तरल तारिके! बोलो कुछ बैठो मत मौन?

प्रसादजी ने अपने नवीन ढँग से भी कुछ अलंकार-योजना की है—

विकसित सरसिज वन-वैभव, मधु ऊषा के अञ्चल में
उपहास करावे अपना जो हँसी देखले पल में।

इसके अतिरिक्त पाश्चात्य अलंकारों का प्रयोग भी नवीनता के साथ किया गया है। विशेषण-विपर्य्यय, मानवीकरण, आदि अलंकार कवि की अभिव्यञ्जना-शक्ति और भाषा की वक्रता का वैभव बढ़ाते हैं।

विशेषण विपर्य्यय—

१—यह मूर्छित मूर्छना आह-सी निकलेगी निस्सार!

२—यह दुर्बल दीनता रहे उलझी चाहे फिर ठुकराओ।

मानवीकरण—'मेरी यात्रा पर लेती थी नीरवता अनन्त अंगड़ाई' आदि शत-शत उदाहरण हैं।

यह तो रही चित्रमयता की बात। अब संगीत-माधुरी का भी थोड़ा रसास्वादन कर लें। प्रसादजी नाटककार हैं—उन्हें नृत्य और गीत का व्यावहारिक ज्ञान है। साथ ही उनकी छन्द-योजना बड़ी विचित्र और पूर्ण है। उन्होंने ही छन्दों की सबसे पहिले अपने ढंग से रचना की थी। उनकी गीतियाँ स्वर और लय पर नृत्य करती हैं—कहीं-कहीं नृत्य के साहचर्य के कारण शब्दों में एक विचित्र गति आ जाती है। यद्यपि उनकी छन्द-रचना में पंतजी की-सी कला नहीं मिलती, परन्तु उनमें अपनी एक विशेष संगीतमय विह्वलन है। कवि ने भिन्न-भिन्न छन्दों का सफल प्रयोग तो किया ही है; साथ ही बहुत-से छन्दों के सम्मिश्रण से उन्होंने भावों की गति के साथ सामञ्जस्य बैठाया है। उनके छन्द वीर भावों के साथ अकड़ कर चलते, विलास भावनाओं के साथ इंगित-पूर्ण नृत्य करते और व्यथा-वेदना के साथ कराहते हैं। तीनों प्रकार के उदाहरण देखिए—

१— हिमाद्रि तुङ्ग शृङ्ग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती,
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती—

अमर्त्य वीर पुत्र हो दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो
प्रशस्त-पुण्य पंथ है, बढ़े चलो, बढ़े चलो!

२—हे लाज भरे सौन्दर्य बतादो मौन बने रहते हो क्यों?
यहाँ शब्दों की गति ही इस प्रकार है कि 'क्यों' के उपरांत एक साथ 'हस' की ध्वनि अपने आप सुनाई पड जाती है।

३— मींड़ मत खिंचे बीन के तार!
निर्दय अंगुली अरी ठहर जा
पल भर अनुकम्पा से भर जा
यह मूर्छित मूर्छना आह-सी निकलेगी निस्सार!

इसी प्रकार जब वर्णन-धारा वेगवती होती है तो छन्दो में एक प्रवाह मिलता है। *कामायनी में कवि की छन्द-योजना का विलास दर्शनीय है।*

भाषा—आरम्भ में प्रसादजी की 'पथरीली (?) भाषा' बहुत दिनों तक लोगों की समझ में नहीं आई और उस पर समालोचकों के कुलिश प्रहार निरन्तर होते रहे। इसका कारण उनकी तत्सम-प्रियता थी। उन्होंने संस्कृत की कोमल-कान्त शब्दावली का प्रयोग भाषा को अलंकृत करने के लिए शुरू से ही किया है। इसके अतिरिक्त उनकी प्रारम्भिक रचनाओं की भाषा में लचरपन भी मिलता है—झरना की भाषा अधिक व्यवस्थित नहीं है—कहीं-कहीं व्याकरण की त्रुटियाँ भी हैं। परन्तु ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया प्रसादजी के हाथों में भाषा की लाक्षणिक मूर्तिमत्ता, सांकेतिकता

और चित्रमयता बढ़ती गई और उसकी स्नायुएँ भी पुष्ट होती गईं। कामायनी की भाषा मधुमय शब्दों से सनी होने के अतिरिक्त प्रसंगानुकूल ओजपूर्ण और सुगठित है। उसमें 'कंकण क्वणित रणित नूपुर ध्वनि' की रुनझुन के साथ प्रलय-लहरों की झकोरें भी हैं। प्रसादीय भाषा की एक और विशेषता उसकी वक्रता और मौलिक प्रयोगों की विविधता है। सभी प्रतिभाशाली कलाकारों की तरह उन्होंने भाषा से अनुचरी की भाँति सेवा ली है। सारांश यह है कि प्रसादजी की भाषा उनके परिपूर्ण क्षणों की वाणी है—यद्यपि यह मानना पड़ेगा कि उनकी काव्यभाषा में गद्यभाषा की-सी प्रौढ़ता नहीं है।

अंत में, कहना होगा कि प्रसादजी हिन्दी-जगत में अमर शक्तियाँ लेकर अवतीर्ण हुए थे। उनकी प्रतिभा सर्वथा मौलिक थी। उन्होंने साहित्य के जिस अंश को स्पर्श किया उसी को सोना बना दिया। उनका महत्व ऐतिहासिक तो है ही—एक प्रकार से आधुनिक युग के वे निर्माता भी हैं। उन्होंने ही सब से पूर्व शुष्क उपयोगितावाद के विरुद्ध भावुकता का विद्रोह खड़ा किया—या यों कहिये कि झूठी भावुकता (Sentimentalism) के विरुद्ध सच्ची रसिकता का आदर्श रख दिया। अकर्तृत्व (passivity) के युग में आत्मव्यञ्जना (subjectivity) की पुकार करने वाले ये पहिले कवि थे। उन्होंने एक नवीन कला और नवीन भाषा हिन्दी को प्रदान की। ऐतिहासिक महत्व के अतिरिक्त काव्य के चिरंतन आदर्शों के अनुसार भी उनका

स्थान बड़ा ऊँचा है। एक चिंतन प्रधान, व्यापक, एवं करुण अनुभूति जिसमें रंगीन अद्भुत-प्रिय कल्पना का वाँछित योग रहता है उनकी अपनी विशेषता है।

मातृगुप्त के आदर्शानुसार प्रसादजी की कविता "वर्णमय चित्र है जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाती है। अंधकार का आलोक से, जड़ का चेतन से, और वाह्य जगत का अन्तर्जगत् से सम्बन्ध कराना उसका मुख्य उद्देश्य है।" कामायनी का कवि हिन्दी के किसी भी कवि की समकक्षता प्राप्त कर सकता है।

प्रसादजी के छन्द

वाक्य भाव की भाषा है तो छन्द काव्य की भाषा है। प्रसाद जैसा कवि केवल भावोद्वेगों को उद्गार करने के लिए नहीं, वह रस अथवा सौष्ठव मात्र उपस्थित नहीं करना चाहता है, वह संस्कृति और सौन्दर्य अथवा संस्कृत सौन्दर्य को झाँकने वाला है। उसने उसे देख लिया है, इसीलिए एक भावुक भक्त की भाँति सौन्दर्य के आवाहन के सत्कार के प्रत्येक बेर को शबरी की भाँति चख कर सुरुचि के साथ बड़ी भयकातरता किन्तु आत्म-विश्वास के साथ रखता है। भाषा, जैसी वैसी ही परिमार्जित और भाई छन्द शैली भी उन्होंने रखी है। उन्होंने अपना ज्ञान और पाण्डित्य नहीं प्रकट किया। विविध छन्दों का उन्होंने उपयोग किया है, किन्तु इस बात पर एक बार अविश्वास किया जा सकता है कि उन्होंने छन्द-शास्त्र को कभी महत्त्व दिया या उसका यथाविधि अध्ययन भी किया। यह इसलिए नहीं कि उन्होंने जो छन्द लिखे वह शास्त्रानुकूल नहीं। वे सभी शास्त्र-प्रतिपादित हैं; बस उनमें शास्त्रीयता नहीं मिलती। प्रसाद सहज

स्रष्टा प्रतीत होते हैं—उन्होंने जितने भी छन्द लिखे हैं उनमें सबमें उन्होंने अपने काव्य के सौन्दर्य की पात्रता मात्र देखी है। उस पात्रता के लिए स्वर-संगीत एक आवश्यक तत्व उन्होंने समझा है। स्वर-संगीत का अर्थ शब्दों की सुगीतिता नहीं, जैसी पन्त में है। इसका अर्थ कोमल सुचारु वर्णों का चेतन प्रयोग भी नहीं, न इसका अर्थ संगीत की लय-गति है। इसका अर्थ है अक्षरों के स्वरों का एक दूसरे में द्रवित होते चले जाना। इस प्रकार छन्द में द्रवित स्वरों का प्रवाह है, जिससे एक संगीत स्वयं उद्मुदित होने लगता है—इसी के अनुकूल उन्होंने छन्दों का चयन किया है।

> 'निज सौध सदन में उटज पिता ने छाया
> मेरी कुटिया में राज भवन मन भाया'—

साकेत के इन चरणों में संगीत है किन्तु इन पंक्तियों को देखिए:—

> तू बढ़ जाता अरे अकिंचन, छोड़ करुण स्वर अपना
> सोने वाले जाकर देखें, अपने सुख का सपना
>
> —लहर पृ० ५१

इनमें स्वर-संगीत है। छन्द के स्वर बढ़े बढ़े एक चरण से दूसरे में अपनी लय को तिरोहित आगे को उद्बुद करते हैं। दोनों के संगीत का सिद्धान्त अलग-अलग है। यह स्वर-संगीत प्रसादजी के प्रत्येक काव्य के अन्तर में प्रवाहित है। यह शब्दों के कारण नहीं वरन् छन्दों के स्वभाव के कारण है।

उन्होंने छन्द कितने ही प्रकार के लिखे हैं, 'झरना' जैसे संग्रह में ४८ छोटी-छोटी कवितायें हैं; और प्रायः प्रत्येक कविता एक नये छन्द में लिखी गयी है—किन्तु नया छन्द लिखा गया इस ज्ञान से कि यह भिन्न जाति का हो और बस; उन्होंने यह कभी नहीं जाना कि कौनसा छन्द लिखा जा रहा है। इसका फल यह हुआ कि उन्होंने स्वतन्त्रता पूर्वक शास्त्र निर्णीत विभिन्न छन्दों को मिलाकर अपने लिए एक की रचना की है।

'झरना' ये झरना नाम की पहली कविता का एक छन्द शास्त्र-प्रथा विरुद्ध छः चरणों का है—

मधुर है स्रोत, मधुर है लहरी
न है उत्पात, छटा है छहरी
मनोहर झरना
कठिन गिरि कहाँ विदारित करना।
बात कुछ छिपी हुई है गहरी
मधुर है स्रोत मधुर है लहरी।

प्रथम दो चरण १७-१७ मात्रा के हैं। तीसरा ६ मात्राओं का है। चौथा फिर १७ मात्राओं का है। पाँचवां भी है ऐसा है। छठा तो टेक की भाँति सबसे ऊपर के चरण की दुहरावट है। १७ मात्राओं वाले चरणों में ८ और ६ पर यति है। किन्तु यह यति का नियम व्यापक नहीं। कवि ने इसे आवश्यक नहीं समझा। हाँ, जहाँ यह रहा है वहाँ चरण अपनी गति में साव-धान और सुन्दर रहा है। अन्तिम यतिकाल की मात्रा का

चरण तीसरा है। इस प्रकार छन्द में संगीत पैदा किया गया है। प्राचीन पिंगलों में ऐसा छन्द नहीं मिलेगा। कवि ने अपनी शक्ति-शाली रचना से प्राचीन छन्द परिपाटी की जड़ में अपनी दृष्टि डाल दी है। वे इसी कारण नव-छंद रचना के मूलाधार हुए। काव्य और भाव का ही नया रूप उन्होंने नहीं उतारा किन्तु छंद का भी नया रूप उपस्थित किया। स्वर-संगीत वाला कवि तुक को गर्हित नहीं समझता तो उसके लिए प्राण भी नहीं देता। प्रसादजी तुकों की अवहेलना नहीं करते उन्हें केवल और सिद्धान्त पर लाने के पक्ष में है। वे उन्हें आवश्यक नहीं समझते और यही दिखलाने के लिए उन्होंने कई रचनाएँ तुक-विहीन कीं—

> वीणे! पञ्चम स्वर में बजकर मधुर मधु
> बरसा दे तू स्वयं विश्व में आज तो।
> उस वर्षा में भीगे जाने से भला
> लौट चला आवे प्रियतम, इस भवन में।

किन्तु छन्द-जीवन को ललित बनाने के लिए उसे उपयोगी समझा है और जब वे एक स्थिर महाकाव्य लिखने बैठे तो उसमें किसी छन्द को अतुक नहीं रख सके; यद्यपि तुक का नियम अपनी रुचि के अनुकूल ही कहीं भले ही रखा हो। तुक-हीन रचनाएँ दो प्रकार की हैं एक तो ऊपर जैसी हिन्दी की शैली की, जिसमें छन्द की गति निश्चित मात्रा के मार्ग से हुई है, अथवा इसी के थोड़े हेर-फेर से विशेष संगीताधीन किये हुए!

छन्द के द्वारा जैसा झरना के पहले छन्द में मिलता है। दूसरी शैली में कवि ने माला-विधान को स्थान नहीं रखा। भावों की माप के अनुकूल नादस्फोट और लय-विराम के सिद्धान्त पर—

जैसे—'प्रलय की छाया' में—

"थके हुए दिन के निराशा भरे जीवन की
सन्ध्या आज है भी तो धूसर क्षितिज में।
और उस दिन तो;
निर्जन की जलधि-वेला रागमयी सन्ध्या से—
सीखती थी सौरभ से भरी रंग-रलियाँ।

× × × ×

आँखें खुलीं,
देखा मैंने चरणों में लोटती विश्व की विभव—राशि,
और प्रणत वहीं गुर्जर-महीप भी। वह एक सन्ध्या थी!"

इसमें किसी चरण की मात्रा निश्चित नहीं। प्रत्येक चरण प्रायः भिन्न मात्रा का है, जहाँ दो चरणों में मात्रा संतुलन है, वह इसलिए है कि उन दोनों में भाव संतुलन भी है। भाव के अनुकूल उसके विस्तार के साथ छन्द के चरणों का नियमन हुआ है। इसमें इसके साथ-साथ एक गहरी स्वर-धारा समवेत है। वही नाद-स्फोट और लय विराम से इस काव्य के छन्द को छन्द बनाये हुए है। हम एक स्वर धारा में पढ़ना आरम्भ करते हैं—

आँखें खुलीं—और अन्तिम स्थल पर एक भाव पूर्ण होता है

किन्तु लय विराम नहीं। इसलिए स्वर का नाद स्फोट उं चरण बनाता है, वह स्वर धारा किन्तु आगे बढ़ते ही जाती है 'थी' और 'राशि' पर नाद-स्फोट के कागारों को चलघते डलंघं न केवल भाव उग्र होते हैं लय भी तीव्र होती है—

और थे प्रणत वहीं गुर्जर-महीप भी—और यहाँ लय विराम आता है। इस प्रकार इस छंद का विधान हुआ है। इस सब में स्वर-धारा को बाधे रखने वाला छंद हिन्दी का 'कवित्त' अथवा 'मनहरण' है। यह कवि ने ऊपर की सब से पहली दो पंक्तियों से ही प्रकट कर दिया है, और सारा छन्द जिसे हिन्दी में कभी केंचुआ कभी रबड छन्द बतलाया गया था, केवल उसी अति-प्रचलित कवित्त की प्रयोग भिन्नता थी। उसी कवित्त के चरणों तथा चरणाङ्गों को भावानुरूप नाद स्फोटों तथा लय विरामों से सजाकर नये रूप में उपस्थित कर दिया। इससे कवि की सृजन की मौलिकता का कितना असंदिग्ध पता मिलता है।

तो जब तक कवि छोटे छोटे उद्‌गारों को छोटी छोटी भाषा में बाँधता रहा उसने ये प्रयोग किये, आगे बढ़ते ही जैसे उसने महाकाव्य की रचना की रूप रेखा खडी की उसने वे सब प्रयोग करना छोड दिया और वह अपने विधान में छंदों के प्रयोगात्मक महत्व को छोड सिद्ध रूप को लेकर चलने के लिए प्रस्तुत हुआ। वहाँ भी वह कम स्रष्टा नहीं, किन्तु वहाँ वह इतना गंभीर हो गया है कि उसके प्रयोगों में जो बतावलापन दीखता है, वह छोड दिया है।

कामायनी के छंद प्रायः ३०-३२ और २४ मात्राओं और इसके १६, १६; १६ १५; १६, १४ वाले भेदों के अन्यान्य ही आते हैं—कामायनी का आरम्भ १६-१५ मात्राओं के वीर छन्द से होता है। यह वीर छन्द तो कवि ने रखा है किन्तु १६ का एक चरण और १५ का दूसरा चरण बनाकर साधारणतः जहाँ यति होती वहाँ चरण पूर्ति मान कर 'वीर छंद' का रूप बदल दिया है। इस प्रथम 'चिन्ता' के अध्याय मे 'वीर छंद' के बीच में 'ककुभ' के समकक्ष १६, १४ के यति पर चरण पूर्ति वाला छंद लिखा गया है, जिसके अन्त में दो गुरुओं का नियम नहीं रखा गया है। 'आशा' में भी ऐसे ही छन्दों का प्रयोग है। श्रद्धा पटल में छन्द बदल कर १६-१६ मात्राओं के चरणों के हो जाते हैं। यह 'शृङ्गार' नामक छन्द है। इसके अन्त में ऽ। होता है।

कौन तुम संसृति-जल निधि नीर
तरंगों से फेंकी मणि एक,
कर रहे निर्जन का चुपचाप
प्रभा की धारा से अभिषेक ?

इसमें कहीं-कहीं ऽ। के स्थान पर अन्त में।ऽ भी कर दिया गया है—यथा:

तरल आकांक्षा से है भरा
सो रहा आशा का आह्लाद।

फिर 'काम' में यह छन्द 'पद पादाकुलक' हो जाता है। यह १६ मात्राओं का छन्द है जिसके अन्त में ऽ होता है।

वासना में रूपमाला छन्द का उपयोग है। यह छंद १४, १० के यति से अन्त में ऽ। के साथ होता है। 'लज्जा' में फिर पद-पादाकुलक है। 'कर्म' में 'सार' छन्द के समकक्ष, १६, १२ की यति का नहीं वरन् चरण-पूर्ति का छन्द है।

कर्म सूत्र संकेत सदृश थी
सोमलता तब मनु को;
चढ़ी शिंजिनीसी, खींचा फिर
उसने जीवन धनु को।

कहीं पर यह १६-१२ का न होकर १४-१४ का भी कर दिया गया है—

कर्म यज्ञ से जीवन के
सपनों का स्वर्ग मिलेगा;

'ईर्षा' में कवि ने दो विभिन्न छन्दों के चरणों से एक भिन्न छन्द बनाया है—

पल भर की उस चंचलता ने
खो दिया हृदय का स्वाधिकार!

इसमें पहला चरण १६ मात्रा का पदपादाकुलक है और दूसरा १६ का पद्धरि है।

संघर्ष में रोला या काव्य छन्द है, यह २४ मात्रा ११-१३ की यति से ही होता है। 'निर्वेद' में ककुभ सदृश छन्द है। 'दर्शन' में 'पादाकुलक' है, १६ मात्रा और अन्त में ऽ। होता है। इसमें कवि ने छः चरण रखे हैं। इसमें पहला चरण पूर्व का प्रसिद्ध छन्द चौपाई है, दूसरे चरण की जगह कहीं 'डिल्ल' है—जैसे

'श्वास रुद्ध करने वाले हम'

कहीं 'अरिल्ल' जैसे

शून्य, पवन बन पंख हमारे—जैसे

छन्दों के चरणों का भी मेल मिला दिया गया है।

'आनन्द' 'सखी' छन्द मे है, जो १४ मात्रा का होता है।

इतने छन्दों मे यह कामायनी समाप्त की गई है।

सब छन्दों मे भावानुरूप है। प्रसाद जी वस्तुतः गीति काव्य के कवि हैं। 'Lyrics' में जिस प्रकार उद्‌गारों का सौन्दर्यमु को मल और करुण कलेवर में प्रकट होता है, वही प्रसाद के छंदों में भी बात है। 'कामायनी' जैसा महाकाव्य भी उस गीतकाव्य आत्मा से खिल उठा है। वह उसमें भी व्याप्त है। उसमें गीत-काव्य का स्वरूप तो नहीं रहा, आत्मा ही है। इस प्रकार कवि ने गीति काव्य की ओर भी हिन्दी को आकर्षित किया। प्रसाद जी भारत के सच्चे सपूत थे। उन्होंने काव्य जगत मे भावात्मक क्रान्ति भी की और रूपात्मक भी। उन्होंने संस्कृति का बहुत मूल्य रखा है और उनके छन्दो का सुकरत्व भी संस्कृति का परिचय देने वाला तथा भावानुरूप है।

प्रसादजी की भापा

कवि अपना कवि-कर्म करता हुआ भापा से सबंद्ध हो जाता है। उसका काव्य भापा बनकर उद्गरित होने लगता है। इस उद्गार पर उसकी अपनी अभिव्यक्ति का भार होता है। भापा अथवा उद्गार यद्यपि उसके सम्पूर्ण अन्तरत्व को प्रकाश नहीं करती और उसमें जो कुछ प्रकट है वह भी उसकी संपूर्णता नहीं—वह सब तो उसके अपने अन्तर-विराट के स्फुलिंगों की धारा मात्र है। फिर भी वह अन्तरत्व के लिए हो है। जहाँ कवि केवल इस स्फुलिंग धारण को दिखाने के लिए अन्तर-वह्नि को जागरित करता है, और जहाँ वह अन्तर-वह्नि की प्रबल उद्दीप्ति से विवश हो भापा-स्फुलिंगों रोक नहीं सकता इन दोनों अवस्थाओं में अन्तर है—दूसरी अवस्था में कवि का अन्तर ठीक अनुवादित हो रहा है। पहली अवस्था में कवि में छद्म आ जाता है।

कवि के पास भापा-संकेतों के अतिरिक्त और कोई साधन निजी भाव विनिमय का नहीं। भापा वह माध्यम है जो उसको जानने वाले व्यक्तियों के मानस-धरातल को एक कोटि में लाकर रख

देता है। कवि इसी साधन को जितनी कुशलता से काम में लाना जानता है, उतनी ही उसकी अभिव्यक्ति ऊँची होती है, उतना ही वह सौन्दर्य का दर्शन कराने में अधिक सफल होता है। किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि एक भाषा के विभिन्न वर्ग होते हैं। उसकी सीढ़ियाँ होती हैं—और उसका सब से निचला डंडा वहाँ होता है जहाँ केवल अपनी आवश्यकताओं भर में घिरा हुआ अभावुक मानस अपना दैनिक व्यापार-संपादन करता है और अपने तन्मात्र अस्तित्व से आगे मानस का विस्तार करना ही नहीं जानता। और उसका सब से ऊपरला डंडा वहाँ होता है जहाँ कला-विलासी मनुष्य इस जगत-जीवन के सारे भूः भुवः—तल और अन्तरिक्ष को आत्म-सात करता हुआ स्वः-रहस्य लोक में झांकने लगता है और वहाँ वह सीढ़ी अपनी शक्ति की ऊँचाई की पराकाष्ठा के छोर पर पहुँचा कर उस विराट अन्तर्लोक में अपनी असमर्थता और क्षुद्रता अनुभव करती है, वहाँ पहुँच कर मनुष्य और ऊपर उठने की चेष्टा करता प्रतीत होता है और उस सीढ़ी में कुछ और वृद्धि करने में भी लगाता है—एक ही वस्तु की तारतम्यात्मक अवस्था होते हुए भी प्रथम और अन्तिम अवस्थाओं में पाताल और आकाश का अन्तर है—और इन दोनों ओर ओर-छोर के बीच कितनी ही क्रमागत अवस्थायें हैं—और एक ही कार्य में जैसे-जैसे वह मानव-मेधा में व्यवहार-व्यापार की अपनी अन्तिम श्रेणी से उत्तरोत्तर ऊपर उठता चलता है उसका मानस-क्षेत्र अधिकाधिक प्रकाश से प्रोद्भासित होता हुआ

क्रमागत कला विलास, सौन्दर्य और शिल्प के सत्य का दर्शन करता चलता है वह भाषा की भी वैसी ही सीढ़ियाँ चढ़ता चलता है।

प्रसादजी ने जिस अन्तरिक्ष मे पहुँचकर ऊँचा झांकते-झांकते अपने कवि-कर्म की इति घोषित की है वहाँ से नीचे देखने पर यद्यपि गहराई बहुत अधिक दीखती है, पर उन्होंने डंडे बहुत कम उल्लङ्घन किये हैं। कारण यह है कि प्रकृत स्थिति ने उन्हें भाषा की बहुत उच्च कक्षा में आरम्भ से ही पहुँचा दिया था। उनकी संस्कृत मनोवृत्ति ने चुनी, सुघर और सुकर भाषा को आरम्भ से ही अपना माध्यम चुना। ऐसा केवल हम उसी भाषा के सम्बन्ध में कह रहे हैं जो उनकी अपनी भाषा है। यों तो सब से पहले जिसमें लिखा वह भारतेन्दु सेवें की भाषा थी—वह व्रजभाषा कही गयी थी, उसमें प्रसादजी ने कवितायें कीं और अनुभव किया कि वह उनके लिए विभाषा है, उसको उन्होंने त्याग ही नहीं दिया, वरन् अपनी पूर्व व्रज-भाषा कृतियो का दूसरा संस्करण उन्होंने अपनी निजी भाषा में अनुवाद कर दिया। प्रेम पथिक एक इसका उदाहरण है, जिसके प्रथम संस्करण के निवेदन में कवि ने लिखा है—

'केवल इतना कह देना अधिक न होगा कि यह काव्य व्रज-भाषा में आठ वर्ष पहले मैंने लिखा था;···· ····यह, उमी का परिवर्तित, परिवर्द्धित तुकान्त विहीन हिन्दी रूप है।"—और यह हिन्दी व्रजभाषा से भिन्न उनकी अपनी भाषा है। यद्यपि

उन्होंने इसको यह रूप देने का कारण दिया नहीं पर वह इतना स्पष्ट इतना नंगा है कि न कहना ही ठीक था—और इस प्रेम-पथिक की आरम्भिक पंक्तियों में हम क्या देखते हैं—

सन्ध्या की, हेमाभ तपन के, किरणें जिसको छूती हैं
रञ्जित हैं देखो जिस नई चमेली का मुद से

और यहीं से यदि उनका आरम्भ मानें तो भाषा की निचली सीढ़ी कितनी गहराई में दीखती है—तो इतने ऊँचे धरातल से कवि ने आरम्भ किया और ऊँचा उठने की चेष्टा की। उसे अब भाषा मिल गयी थी और वह कवि-कर्म में अपने मनोनुकूल संलग्न हुआ।

उसने 'कामायनी' में आकर अपनी कवि-वाणी को विश्रान्ति दी—और वहाँ तक भाषा को भी वह उठा ले गया।

भाषा और भाव का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इसका तात्पर्य केवल इतना ही नहीं कि बिना भाषा के भाव और बिना भाव के भाषा अपना अस्तित्व नहीं रख सकते—इससे भी आगे इसका अर्थ यह भी है कि भाव के अनुकूल भाषा बनती है और भाषा के अनुकूल भावों की सृष्टि होती है और एक अपने साथ दूसरे को ऊपर उठाने की चेष्टा करता है। किन्तु हर काल में ऐसी अवस्था नहीं रहती। कभी भावों का ऐसा विपुल जागरण होता है, कभी भाव वस्त्रों की भाँति एक के ऊपर एक ऐसे उच्च स्थिति होते चले आते हैं कि उस तुमुल में भाषा क्षुब्ध हो जाती है। वह जो कुछ कहना चाहती है, तब

केवल संकेत बिन्दु-मात्र का रूप धारण कर कहती है—वह तब पूर्ण अर्थ को पूर्णता के साथ अभिव्यक्त नहीं कर सकती। वह उस अर्थ को अपनी अशक्त अपूर्णता के साथ केवल ध्वनित करती है—तब अर्थ वाच्य से काम अधिक हो जाता है—किन्तु इससे पूर्व कवि में वह अवस्था मिलती है जहाँ भाव से अधिक भाषा का प्राधान्य दिखाई पड़ता है। इस अवस्था में कवि जितने भी भाव लाता है वे शब्दमय होते हैं। एक एक भाव जितने भी अधिक से अधिक शब्द हो सकते हैं उतने शब्दों में व्यक्त होता है। तब कवि बजाता अधिक है गाता कम है। वह हृदय का रस शब्दों में कम उंडेल पाता है—शब्दों के रस को ही उलटा हृदय में उँडेलना चाहता है। प्रसादजी के साथ इन दोनों में से कोई भी बात नहीं लगती।

उनमें हमें आरम्भ से ही विशिष्ट गंभीरता मिलती है। उनकी भाषा की भँवें भीषण आवेगावस्था में भी विकृत नहीं होतीं। यों एक-आध कम हो जाने से कुछ बनता बिगड़ता नहीं—किन्तु वह चंचलता, हास्य, क्रोध, करुणा ये भाषा में खिलखिलाहट अथवा विकलता का उद्भास एक प्रकार से शून्य ही है—एक मन्थर गति का विधान—एक अन्तर स्थिरता की जमी हुई जड़—अडिग और अचल सुमेरु सी आदि से अन्त तक के काव्यों में हमें मिलती है।

ऐसी अवस्था में केवल शब्द-सौन्दर्य के बाह्य-उपकरणों का विकास प्रसादजी को नहीं मिलेगा। प्रेम-पथिक की भाषा और

भाव की संयोजना में निस्संदेह शब्दों का आवरण गहरा अवश्य है किन्तु उस मूर्त गंभीरता के कारण वे दिवालिया नहीं लगते। तुक-विहीनता ने उस दरिद्रता का विभ्राट और भी नहीं होने दिया। करुणा-स्थल प्रेमपथिक में आया है—

फिर तो चारों दृग आँसू चौधारे लगे बहाने! हाँ
सचमुच ऐसा करुण हृदय करुणानिधि को भाता है
कृपा-नाव क्या उनकी इस सागर में तैरा करती है
किसी मनुज का देख आत्मबल कोई चाहे कितना ही
करे प्रशंसा किन्तु हिमालय-सा भी जिसका हृदय रहे
और प्रेम करुणा गङ्गा यमुना की धारा बही नहीं।

× × × ×

नीलोत्पल के बीच सजाये मोती—से आँसू के बूँद!
हृदय सुधानिधि से निकले हो, सब न तुम्हे पहिचान सके
प्रेमी के सर्वस्व अश्रुजल चिरदुःखी के परम उपाय!

इन पंक्तियों की भाषा उतार-चढ़ाव शून्य है। करुणा के चित्र का व्यंग इसमें अवश्य है। आँसू की उक्ति में कितनी विशद भावुक कल्पना है, या वह उतनी वाच्य नहीं। शब्दों ने अपनी भंगिमा से कुछ नहीं कहना चाहा जो कुछ उन्हें कहना हुआ है वह ध्वनि से कहा है। शब्द एक रस शान्त से वाक्य के आरम्भ से अन्त तक हैं। दुखी उच्छ्वासों का भौतिक शब्दानुवाद इन पंक्तियों में नहीं—और वह कवि में कहीं भी नहीं। जहाँ थोड़ा बहुत ऐसा विकलत्व कवि ने दिखाना पसन्द किया है

यहाँ भाषा की अपेक्षा, आरम्भिक अवस्था में, छन्द की गति के उद्वेलन से प्राप्त किया है। लहर में संकलित 'प्रलय की छाया', 'पेशोला की प्रतिध्वनि' और 'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण' को देखकर यह जाना जा सकता है। उनमें कुछ विकलत्व है, वह छन्द की गति के क्षोभ के कारण है, प्रसाद की भाषा प्रिय-प्रवास के कवि के कंकड़-पत्थरों से भारी हिम स्राव सी भाषा नहीं, गुप्तजी की भाषा की सागर-वीचियों के फेनिल उद्वर्तन का भी यहाँ अभाव है, पंतजी का वह नवनीत मधुर संगीत स्वरता भी प्रसाद में नहीं। प्रसाद में भाषा का अनूठा हेमोज्वल सुकरत्व है—

पर कोई कह सकता है कि भावों के अनुकूल समस्वरित भाषा न हो तो यह भाषा का दोष है। भाषा उद्वेग चित्रों को यदि अपने निजी विकारों से प्रकट कर सकती है तो वह सोने में सुगन्ध के समान काव्य और कवि के उत्कर्ष को बढ़ाती है। यह लोच और चोज भाषा की जान है—और प्रसाद की भाषा इस दृष्टि से खरी नहीं कही जा सकती। यह भी कहा जा सकता है कि ऐसा कवि शब्दों की आत्मा से परिचित नहीं। यह भी संदेह किया जा सकता है कि ऐसा कवि कभी अपने काव्य को अभिव्यक्ति पूर्ण और प्रभावोत्पादक बना सकता है?

भाषा सौन्दर्य का जब तक मौलिक-ज्ञान न हो तब तक इन प्रश्नों का ठीक उत्तर नहीं मिल सकता। भाषा प्रत्येक व्यक्ति के साथ परिवर्तित होती है। जिसमें जितनी अधिक प्रधान

उसके अपने व्यक्तित्व की प्रेरणा होती है उतनी ही अधिक उसकी भाषा में अन्य व्यक्तियों से भिन्नता होती है—

यह वैयक्तिक भिन्नता, संक्षेप में ऊपर बतायी जा चुकी है। किन्तु इस भिन्नता के साथ प्रत्येक कवि में उसकी भाषा के सौन्दर्य का भी एक अन्तर रूप उपस्थित रहता है। प्रसादजी ने झरना में कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार लिखी हैं।

सरसों के पीले कागज पर वसन्त की आज्ञा पाकर,
गिरा दिये वृक्षों ने सारे पत्ते अपने मुखला कर,
खड़े देखते राह नये कोमल किसलय की आशा में।
परिमल पूरित पवन-कण्ठ से, लगने की अभिलाषा में॥
अतल सिन्धु में लगा-लगा कर, जीवन की बेड़ी बाजी।
व्यर्थ लगाने को डूबी हाँ, होगा कौन भला राजी॥
मिले नहीं जो वाञ्छित मुक्ता अपना कंठ सजाने को।
अपना गला कौन देगा यों, बस केवल मर जाने को॥
मलमानिक की तरह कभी आ, गले लगोगे तुम मेरे।
फिर विकसेगी उजड़ी क्यारी, क्या गुलाब की यह मेरे।
कभी चहल कदमी करने को, काँटों का कुछ ध्यान न कर।
अपना पाईंबाग बना लोगे प्रिय ! इस मन को आकर॥

झरना' में 'पाईंबाग'।

इस कविता की भाषा में क्या है ? विन्यास में मर्म को छूने की चेष्टा है, और कुछ शब्दों को टटोलने का उद्योग। विन्यास

गठित और संस्कृत है। शब्दों में कवि सौन्दर्य ढूँढ़ने में लगा हुआ है तभी कभी कवि कहता है;

'परिमल पूरित पवन-कण्ठ से, लगने की अभिलाषा में'—
और कहीं कहता है;

'कभी चहल कदमी करने को काँटों का कुछ ध्यान न कर'—
ऐसी चहल कदमी कवि में बहुत कम है। उसने शब्दों के सौष्ठव को ढूँढ़ा और तब वह सम्भवतः इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि शुद्धता वाञ्छनीय है। शुद्धता भी तपे हुए सोने की। उसने फिर ढले हुए शब्दों का ही प्रयोग किया। इस सहज शुद्धता के सौन्दर्य की वृद्धि कवि के एक और भाषा सिद्धान्त पर निर्भर करती है। भाषा में शब्द-संबद्धता दो प्रकार की होती है; एक शब्दानुवर्तिनी और दूसरी भावानुवर्तिनी। जहाँ शब्द शब्द से अपने आप जुड़े वहाँ शब्दानुवर्तिनी संबद्धता होगी। इसके लिए पदावली समास-प्रणाली की संश्लिष्ट योजना का सहकार लेती है। 'विश्व-मधु ऋतु के कुसुम विलास' लहर, पृष्ठ १६ में प्रसादजी ने उसी शब्दानुवर्तिनी संबद्धता का सहारा लिया। इस प्रकार की घनिष्ठता भाषा सौष्ठव और सौन्दर्य को भाराक्रान्त कर देती है। शब्द अपने प्रयास से एक विशेष प्रकार के भाव को खींच कर लाना चाहते हैं और सहजत्व व्याघात उत्पन्न हो जाता है। कुछ कवि तो प्राचीन संस्कृतानुकरण पर ऐसे ऐसे वाक्य लिख देते हैं—'रूपोद्यान प्रफुल्ल प्रायः कलिका राकेन्द विम्बानन्त' प्रसादजी ने इस सिद्धान्त को नहीं माना।

भावानुवर्तिनी घनिष्ठता उन्होंने अपनायी है। इसमें भावों की प्रवाहित धारा में शब्द विलिप्ट मणिकाओं से एक दूसरे से अपने उद्गारों को मिलाये प्रतीत होते हैं। मिलित और समस्त पद उसमे नहीं। इस सिद्धान्त से भाषा मे एक स्वाभाविकता आ जाती है। वह शुद्धता, जो अन्यथा संस्कृताश्रयी होकर एक जटिलता उत्पन्न करती और सौन्दर्य को विकृत करती इस सहजता से खिंच कर स्फूर्तिप्रद हो गयी है।

जीवन की अविराम साधना
भर उत्साह खडी थी,
ज्यों प्रतिकूल पवन में तरणी
गहरे लौट पडी थी।

कामायनी, पृ० १०६

× ×

हिमगिरि के उत्तुङ्ग शिखर पर,
बैठि शिला की शीतल छाँह
एक पुरुष, भीगे नयनों से,
देख रहा था प्रलय प्रवाह

कामायनी, पृ० ३

इस शुद्ध स्फूर्ति के साथ भाषा-सौन्दर्य का प्राण 'करुण' है। रसकी करुणा नहीं, भाषा की करुणा। रस की करुणा तो विशेष भावोपादान पर आश्रित है उसका स्थायी भाव होता है करुणा। जैसे किन्तु भाव चाहे कैसे ही हों संगीत

स्वर लहरी में कुछ विशिष्ट स्वरों आगम और विशेष के निषेध जैसे एक करुणा-लहरी लय की नर्तन कर उठती है, उसी प्रकार भाषा विकास में भावों से मुक्त भी एक करुणा ऐसे ही मिलती है जैसे प्रसाद, ओज और माधुर्य गुण मिलते हैं। इस प्रकार कवि ने स्वतः भाषा का हृदय के मूल काव्य-रस के पास पहुँचा देने का प्रयत्न किया है—उसका सौन्दर्य कितना अभूत हो चला है—वह कहता है—

अधर में वह अधरों की प्यास
नयन में दर्शन का विश्वास,
× ×
टूटते जिससे सब बन्धन
सरस-सीकर से जीवन-कन लहर, पृ०१६

अथवा

झील में झाईं पड़ती थी;
श्याम-वनशाली तट की कान्त
चन्द्रमा नभ में हँसता था,
बज रही थी वीणा अश्रान्त॥
तृप्ति में आशा बढ़ती थी,
चन्द्रमा में मिलता था ध्वान्त।
गगन में सुमन खिल रहे थे,
मुग्धहो प्रकृति स्तब्ध थी शान्त॥

झरना, पृ० ५७

भरना के उद्धरण में कवि में भाषा-चैतन्य की कमी है। शब्द आये हैं, बस वे आ गये हैं—किन्तु फिर भी उनके विन्यास में कवि करुणा बैठाये हुए है। ये भाषा का कारुण्य उनके नाटक के गीतों में भी विद्यमान है, और कामायनी में तो बहुत ही प्रस्फुट है—

> कौन हो तुम विश्व माया कुहक सी साकार
> प्राण सत्ता के मनोहर भेद सी सुकुमार !
> हृदय जिसकी कान्त छाया में लिये विश्वास,
> थके पथिक समान करता व्यजन ग्लानि विनाश !
>
> कामा० पृ० ६०

भाव आश्चर्योल्लास से पूर्ण है पर भाषा करुण है। भाषा पर इस करुण पालिश सुकरत्व को हम कुछ समझ पाते हैं। वे इतने ऊँचे धरातल पर हैं कि साधारण भाव-भंगिमाओं के लिए उन्हें विशेष भाषा-व्याहन करने की, उसमें अधिक उतार-चढ़ाव करने की आवश्यकता नहीं। वे रूढ़ि मुक्त रस के अभिव्यक्ता नहीं। उन परिपाटियों के नव अर्थकार हैं। वे सौन्दर्य के साक्षात्कारक हैं और जिस सौन्दर्य का उन्होंने दर्शन किया है वह स्निग्ध और अभूत तथा अमूर्त है। उसकी कल्पना करुण रहस्य से मण्डित और संस्कृत है—उसमें स्फूर्ति भी है। इसी के अनुरूप इनकी भाषा है जो अनुद्वेलित करुण इंगितों का शिष्ट एक मण्डल तय्यार करती है—उसी में उनकी कल्पना उतरती है।

करुण-भाषा की स्फूर्तिप्रद तूलिका से, ऐसा नहीं कि उन्होंने

मूर्त चित्र उपस्थित ही नहीं किये। उनके उपस्थित मूर्त-चित्रों की रेखायें इतनी गहरी और उभरी नहीं कि साधारण दृष्टि में दीख जाँय। भावों के जिस स्निग्ध लोक के निस्पन्द दृश्य कवि ने उतारे हैं उनमे प्रतीक सी अपनी सत्ता को लय किये हुए उनकी भाषा की मूर्त-चित्रता है। वह उस पेन्सिल-चित्र की रेखाओं के समकक्ष है जिसमें एक अंकन ही अपनी परम्परा सब रेखाओं में बनाये हुए ऊँचायी-गहराई, गोलाई, लम्बाई चौड़ाई का विस्पष्ट रूप निर्दिष्ट करता है, और जिसमें ये सब परिमितियाँ किसी भाव-जागरण को प्रधानता देने के कारण गहराई से अपना महत्त्व घोषित नहीं करती, जैसे अपना एक्य समर्पण कर स्वतःभाव बन गयीं हों। तुलसीदास ने जब कहा—

उठति ऊर्व्वि अलि गुर्व्वि सब्ब पव्वै समुद सर,

और इस प्रकार समुद्र का और पृथ्वी का चांचल्य अर्थ और शब्द दोनों से सामना हुआ। इसमें मूल शब्दों की हिलकोर से उग्र रेखाओं का चित्र उतरता है, कवि का भाव भी वहाँ उद्दण्ड है। प्रसादजी ने अपने काव्य इन तूफानों की जहाँ सृष्टि की है वहाँ मूर्त एन्द्रिकता के सहारे नहीं की वरन भावैन्द्रिकता के सहारे की है। उर्व्वि गुर्व्वि पव्वै आदि से कर्ण कुहरों में जो संघर्ष होता है उसका अर्थ उद्वेलन लगता है। प्रसादजी ने अपनी भाषा में इसे बचा दिया है वे जब लिखते हैं—

चलो, देखो वह चला आता बुलाने आज—
सरल हँसमुख विधु जलद लघु खंड वाहन साज।

इन पंक्तियों से किसी के आने का शब्दों का मूर्त चित्र उप-स्थित होता वह बहुत पूर्ण और सफल है। किन्तु मूर्त ऐन्द्रिकता नहीं, भावैन्द्रिकता है। प्रत्येक शब्द अपने ध्वनि संघर्ष से नहीं वरन् भाव-संघर्ष से अपना एक रूप स्थिर करता है। सरल हँसमुख विधु जलद लघु खंड वाहन साज—इनमें सब शब्द अपने अर्थ-भार के साथ अपने रूप के भावों को भी जागृत करते हैं—उनसे जो मूर्त रूप आता है उसमें अर्थाभाव भरकर कल्पना को विशद् और सजीव कर देते हैं। 'उर्विं' शब्द से जो कर्ण-संघर्ष से ऊँचाई निचाई की मूर्त-ऐन्द्रिकता का चित्र उपस्थित होता है, उसमें उर्वि का अर्थ 'पृथ्वी' कहीं समाता नहीं। यहाँ भावैन्द्रिकता नहीं हो सकती जैसी प्रसादजी की पंक्ति में हैं। अतः कवि भाषा को बहुत ऊँचा उठा लेगया है—उसकी भाषा भावुकता के साथ और ऊपर झांकने को प्रस्तुत है अपना सौन्दर्य उसने सँवारा है कि और ऊँचे सौन्दर्य की ओर चलें पर कलाकार की आँख उससे भी बड़े कलाकार ने बन्द करदी।

चन्द्रगुप्त

चन्द्रगुप्त का नाम भारतीय इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। विदेशियों द्वारा लिखे हुए इतिहास में भी हम चन्द्रगुप्त का नाम सर ऊँचा करके पढ़ सकते हैं। चन्द्रगुप्त का नाटक रूप में वर्णन विशाखदत्त ने अपने मुद्राराक्षस में किया है। आजकल भी चन्द्रगुप्त के नाम से दो नाटक निकले हैं किन्तु इनमें और मुद्राराक्षस में अन्तर है। उस नाटक में चन्द्रगुप्त चाणक्य के हाथ में कठपुतली मात्र है। वह नाटक चाणक्य और राक्षस के राजनीतिक घात-प्रतिघात का खेल है। उसमें दो स्वामिभक्त खिलाड़ियों की शतरंज की चालें हैं। काठ की गोटों के स्थान में जीते जागते पात्र हैं जिनमें प्रधान चन्द्रगुप्त है। नाटक के आरम्भ से ही चन्द्रगुप्त मगध सिंहासन पर है। राक्षस अपने स्वामी नन्द का पक्ष लेते हुए चन्द्रगुप्त के स्थान में किसी दूसरे को राजपद पर स्थापित करना चाहता है। चाणक्य चन्द्रगुप्त की रक्षा करता है। राक्षस अपनी स्वामि भक्ति में अटल रहता है। चाणक्य राक्षस की बुद्धि और स्वामि भक्ति का लोहा मानते

हुए चन्द्रगुप्त के हित में यही चाहता है कि राक्षस उसका मंत्रिपद स्वीकार करले। चाणक्य की सारी चालों का यही फल होता है। राक्षस मन्त्रित्व स्वीकार करने को बाधित हो जाता है। यही इस नाटक की फल सिद्धि है। इसमें केवल बुद्धि और कूटनीति का चमत्कार है। इस नाटक की कथावस्तु भी काफी पेचीदा है। इसमें कोमल भावों के लिए स्थान नहीं है। शृङ्गार का नितान्त अभाव है। चन्दनदास और राक्षस का सख्य तथा दोनों मंत्रियों की स्वामि भक्ति दर्शनीय है। इस नाटक में चन्द्रगुप्त को मुरापुत्र ही माना गया है।

चन्द्रगुप्त को ही लेकर आधुनिक युग के दो भिन्न-भिन्न प्रान्तों के महान कलाकारों ने जिनमें एक हैं बङ्गाल के द्विजेन्द्रलाल राय और दूसरे बनारस के जयशङ्करप्रसाद—नाटक लिख कर अपनी अपनी भाषा का गौरव बढ़ाया है। इन दोनों नाटकों का दृष्टि कोण मुद्रा राक्षस से भिन्न है। इन दोनों में चन्द्रगुप्त अपने गुरुदेव चाणक्य के अतिरिक्त अपना शुद्ध व्यक्तित्व रखते हैं (एक स्थान में मुद्राराक्षस में भी चन्द्रगुप्त ने अपना व्यक्तित्व दिखलाया है किन्तु वह चाणक्य की मंत्रणा से) और अपने पौरुष के साथ अपना साम्राज्य स्थापित करते हैं। दोनों ही नाटककारों ने यूनानी सेनापति सिल्यूकस की दुहिता से चन्द्रगुप्त का विवाह कराया है। किन्तु राय महोदय ने उसका नाम हेलेन रक्खा है, प्रसादजी ने उसका नाम कोर्नीलिया रक्खा है। इन दोनों नाटकों में मन्त्रियों की चोट

नहीं है वरन् भारत और यूनान की सभ्यताओं की चोट है अथवा दूसरे शब्दों में चाणक्य और अरस्तू की चोट है दोनों ही में विवाह सम्बन्ध द्वारा भारत और यूनान में सन्धि स्थापित होती है।

उपर्युक्त बातों में समानता होते हुए भी बहुत सी बातों में भेद है। वास्तव में तुलना के लिए समान वस्तुएँ ही तराजू के पलड़े में रक्खी जाती हैं। प्रान्तीय साहित्यों में ऐसे तुलनात्मक अध्ययन का कम अवसर मिलता है क्योंकि दो भिन्न कलाकार एक ही विषय पर कम लिखते हैं। पहले यह बतला देना आवश्यक है कि राय महोदय ने मुगल कालीन भारत के चित्रण में विशेषता प्राप्त की है और प्रसादजी की प्रतिभा मध्यकालीन भारत के चित्रण में अधिक प्रस्फुटित हुई है।

यद्यपि राय महोदय की पुस्तक पहले की है तथापि प्रसादजी की पुस्तक उसका अनुकरण नहीं कही जा सकती है। दोनों नाटकों चन्द्रगुप्त के जन्म के सम्बन्ध में भेद है। राय महोदय ने विशाखदत्त के साथ सहमत होते हुए चन्द्रगुप्त को नन्द की दासी मुरा शूद्रारानी का पुत्र माना है और प्रसादजी ने अपने नायक को मौर्य नामक क्षत्रिय सेना नायक का पुत्र माना है। बौद्ध इतिहासकार ऐसा ही मानते हैं। राय महोदय ने चन्द्रगुप्त को मुरा का पुत्र मानकर नाटक में शूद्र माता का स्वाभिमान दिखलाने का अच्छा अवसर पाया है। इस सम्बन्ध में नन्द और मुरा की वार्तालाप बड़ी आकर्षक है। प्रसादजी ने इस प्रकार की वार्ता-

लाप का मोह छोड़कर बौद्ध लेखकों के साथ सहमत होते हुए प्राचीन शास्त्रकारों के मत के अनुकूल अपने नायक को कुलीन रखना अधिक श्रेयस्कर समझा। जब उसके लिए आधार है तो कुलीन ही क्यों न रक्खा जाय। इसके अतिरिक्त भाई के मारने में अधिक नृशंसता है। राय महोदय इस बात को स्वीकार करते हुए चन्द्रगुप्त को अर्जुन की भांति इस कार्य से विचलित भी कराते हैं अन्त में नन्द को क्षमा भी कराते हैं। यह सब स्वाभाविक है। दोनों ही नाटककारों ने नन्द का वध शकटार के हाथ से कराया है यह ठीक है क्योंकि शकटार को ही नन्द से व्यक्तिगत द्वेष था उसी के सात पुत्र मारे गये थे।

नन्द की हत्या में दोनों ही नाटककार चन्द्रगुप्त को निर्दोष रखते हैं प्रसादजी ऊपरी तौर से चाणक्य को भी निर्दोष रखते हैं। वह नागरिकों से चन्द्र के छोड़ दिये जाने का प्रस्ताव करता है किन्तु शकटार सहसा आकर अपना बदला लेने को नन्द की छाती में छुरा भोंक देता है। राय महाशय चाणक्य और मुरा दोनों को ही कात्यायन के साथ नन्द की हत्या में लपेटते हैं (राय महोदय कात्यायन और शकटार को एक ही व्यक्ति मानते हैं किन्तु कात्यायन जैसे व्याकरण के पंडित से बधिक का काम लेना ज़रा अनुचित सा मालूम पड़ता है। राय महाशय ने चाणक्य की आज्ञा से नन्द की हत्या कराना दिखाया है। वह चाणक्य के स्वभाव के विरुद्ध नहीं है किन्तु मुरा का बीच में आकर आदेश देना कुछ अस्वाभाविक मालूम पड़ता है। कम से

कम मुरा के पूर्व कथित वाक्यों के सर्वथा विरुद्ध है। मुरा को मानसिक आघात जरूर पहुँचा था किन्तु चन्द्र के द्वारा कात्यायन के रोके जाने पर भी उसका (मुरा का) बीच में आ जाना और आग्रह पूर्वक वध की आज्ञा देना विमाता को उच्च भावों से वंचित कर देना है। उसका पीछे से रोना और यह कहना "मैं तो इसकी रक्षा करने आयी थी" चाहे वास्तविक क्यों न हो विडम्बना मात्र दिखाई पड़ता है। इस सम्बन्ध में इतना कहना आवश्यक है कि राय महाशय ने राज्य विप्लव के कार्य को एक गृह युद्ध का रूप दिया है। उन्होंने प्रसादजी की भांति सब काम एक दिन में नहीं समाप्त किया। राय महाशय ने नन्द को बन्दी करा कर फिर वध कराया है प्रसादजी ने तुरन्त ही उसका काम तमाम कर दिया है। राय महाशय ने नन्द के लिए कोई रोने वाला नहीं रक्खा। प्रसादजी ने नन्द की पुत्री कल्याणी की सृष्टि की है जो वास्तव में कल्याणी थी। अपने पिता के कु-शासन का विरोध करते हुए भी और चन्द्रगुप्त से प्रेम करते हुए भी उसने पिता के वध होने पर आत्म-हत्या कर ली।

प्रसादजी ने चन्द्रगुप्त के राक्षस और वररुचि (कात्यायन) दोनों ही आमात्य माने हैं। राय महोदय ने केवल कात्यायन जिसका उन्होंने शकटार के साथ तादात्म्य किया है मंत्री रक्खा है। शकटार को भी मंत्री बनाने का प्रमाण है किन्तु यह नहीं मालूम राय महोदय ने शकटार और कात्यायन का किस आधार

पर एकीकरण किया है। राय महोदय ने कात्यायन को चाणक्य से मिला दिया है अर्थात् दोनों ही के योग से नन्द का पतन होता है।

चाणक्य और नन्द के वैर में मूल कारण दोनों नाटककारों ने भिन्न-भिन्नआधार पर चाणक्य और नन्द का वैर कात्यायन का साजिश से कराया है। चाणक्य को नन्द के यहाँ पुरोहित कर्म के लिए आमंत्रित करा कर नन्द के साले बाचाल द्वारा उसका अपमान कराया है। प्रसादजी ने नन्द और चाणक्य का पुराना वैर दिखाया है। नन्द ने चाणक्य के पिता चणक का सर्वस्व हरण कर लिया था। इस लिए चाणक्य स्वयं ही नन्द से क्रोधित था और तक्षशिला से लौटने पर चाणक्य का नन्द की सभा में अपमान हुआ। इस बात ने चाणक्य के वैर भाव को और भी उग्र बना दिया।

यूनानियों के सम्बन्ध में राय महोदय चन्द्रगुप्त को भेदिये के रूप में, सिकन्दर और सेल्यूकश के साथ स्टेज पर लाते हैं। चन्द्रगुप्त अपने वाक्‌चातुर्य तथा सिकन्दर की उदारता से कैदी होने से बच जाता है। प्रसादजी इसके पूर्व की भी कथा बतला कर पाठकों को आश्चर्य में नहीं रखते। राय महाशय सिकन्दर के सामने सेल्यूकस और एन्टेगोनस के साथ वाक्-युद्ध कराते हैं। प्रसादजी के नाटक में एन्टीगोनस का स्थान फिलिपस ले लेता है। प्रसादजी के नाटक में चन्द्रगुप्त सिकन्दर के देखते देखते अपने बाहुबल से अपने को मुक्त कर भाग जाता है यह जरा

अस्वाभाविक मालूम पड़ता है। प्रसादजी का चन्द्रगुप्त इस मौके पर बड़ी निर्भयता से बात-चीत करता है और सिकन्दर को लुटेरा तक कहने में नहीं चूकता। राय महोदय का चन्द्रगुप्त स्वाभिमान रखते हुए परिस्थिति से कुछ डरा हुआ प्रतीत होता है। प्रसादजी का चन्द्रगुप्त सिंह की तरह से निर्भय है। वह सिकन्दर से कहता है "लूट के लोभ से हत्या-व्यवसायियों को बीच में एकत्रित करके उन्हें वीर सेना कहना रण-कला का उपहास करना है।" आम्भीक के कहने पर कि शिष्टता से बातें करो चन्द्रगुप्त उत्तर देता है कि वह भीरु कायरों की सी वंचक शिष्टता नहीं जानता।

राय महोदय ने अपने नाटक में सिकन्दर के युद्ध और उसमें उसके जख्मी होने का कोई उल्लेख नहीं किया। प्रसाद जी ने उस ऐतिहासिक घटना का बड़ी सुन्दरता से वर्णन किया है इसमें चाहे ब्यौरे की भूल हो परन्तु वर्णन भारत के गौरव को बढ़ाने वाला है। इसमें भारतियों की उदारता का परिचय दिया है।

सेल्यूकश की चढ़ाई के सम्बन्ध में दोनों लेखकों के वर्णन प्रायः एक से ही हैं। इतना ही अन्तर है कि राय महाशय की हेलना विश्व-प्रेम से अधिक प्रेरित है। वह अपने पिता को इस युद्ध के लिए बहुत कुछ रोकती हैं, यहां तक कि कुछ अशिष्टता की भी बातचीत कर बैठती है यद्यपि पीछे से माँफी मांग लेती है।

रायमहाशय का चन्द्रगुप्त चाणक्य के चले जाने से कुछ हताश सा हो जाता है। बीच में ऐसी कमजोरी का आजाना अस्वाभाविक नहीं है। प्रसादजी का चन्द्रगुप्त अविचलित रहता है। प्रसादजी के चन्द्रगुप्त के चरणों में सफलता लोटती सी मालूम पडती है। राय महोदय के चन्द्रगुप्त को सफलता कु परिश्रम के साथ मिलती है। दोनों ही नाटककारों ने शत्रु सेन में राक्षस या कात्यायन के रूप में एक भेदिया पहुँचा दिया है दोनों ही नाटककारों ने चन्द्रगुप्त और चाणक्य के वैमनस्य ह जाने का वर्णन किया है किन्तु दोनों का ही वर्णन विशाखदत्त क आधार पर है पर ब्यौरे में कुछ भेद है। मुद्राराक्षस द्वारा हमको चन्द्रगुप्त में थोड़े स्वाभिमान की रेखा जाग्रत होने का पत चलता है किन्तु वह भी चाणक्य की कूट नीति का एक अङ्ग था जिससे कि राक्षस को यह धोखा हो जाय कि अब चाणक्य इसकी सहायता में नहीं है। मुद्राराक्षस में जिस उत्सव का उल्लेख है वह वसन्तोत्सव है। इन नवीन नाटकों में स्वयं चन्द्रगुप्त का विजयोत्सव है। इस बात में मैं समझता हूँ कि विशाखदत्त ने अधिक बुद्धिमता से काम लिया है। सार्वजनिक उत्सव के बन्द होने से राजा को क्रोध आना स्वाभाविक सा प्रतीत होता है। अपने विजयोत्सव पर भी क्रुद्ध होना कोई अस्वाभाविक नहीं है किन्तु उसमें अधिक बड़प्पन नहीं दिखलाई पड़ता। प्रसादजी ने चन्द्रगुप्त के मुख से उसके माता पिता के रूठ जाने के ऊपर अधिक जोर दिलवाया है। दोनों ही

नाटककारों का वर्णन प्रायः एक सा है दोनों ही में यह दिखलाई पड़ता है कि चन्द्रगुप्त को चाणक्य का नियंत्रण कुछ अखरता है। राय महोदय ने चन्द्रगुप्त को इतना उत्तेजित कर दिया है कि वह चाणक्य को कैद करने की आज्ञा दे देता है किन्तु चाणक्य के आतंक के कारण उसके रोक देने पर किसी की हिम्मत नहीं पड़ती कि उसे पकड़े। गुरुदेव को कैद करने की आज्ञा देना कुछ अनुचित राजमद और अशिष्टता का परिचय देता है।

उत्सव के रोकने में चाणक्य की बुद्धिमत्ता का परिचय चन्द्रगुप्त को शीघ्र ही लग जाता है इस बात को दोनों ही नाटककारों ने दिखलाया है और दोनों ही ने विशाखदत्त का आश्रय लिया है। किन्तु अन्तर इतना है कि प्रसादजी ने चन्द्रगुप्त की रक्षा के लिए उसी घटना में मालविका का बलिदान कराया है। इस बलिदान में त्याग और प्रेम की पराकाष्ठा अवश्य है किन्तु वह बहुत आवश्यक नहीं है। जैसा राय महोदय ने दिखलाया है वैसे बिना मालविका के बलिदान के ही चन्द्रगुप्त की रक्षा हो सकती थी।

मालविका के बलिदान से इतना लाभ अवश्य हुआ है कि कोर्नीलिया का पथ निष्कंटक हो जाता है और चन्द्रगुप्त तथा राज माता के लिए यह धर्म संकट नहीं रहता कि किसके साथ विवाह किया जाय। मालविका यदि जीवित रहती तो कठिन समस्या आती—एक ओर तो मालविका का आत्म बलिदान

रायमहाशय का चन्द्रगुप्त चाणक्य के चले जाने से कुछ हताश सा हो जाता है। बीच में ऐसी कमजोरी का आजाना अस्वाभाविक नहीं है। प्रसादजी का चन्द्रगुप्त अविचलित रहता है। प्रसादजी के चन्द्रगुप्त के चरणों में सफलता लोटती सी मालूम पड़ती है। राय महोदय के चन्द्रगुप्त को सफलता कुछ परिश्रम के साथ मिलती है। दोनों ही नाटककारों ने शत्रु सेना में राक्षस या कात्यायन के रूप में एक भेदिया पहुँचा दिया है। दोनों ही नाटककारों ने चन्द्रगुप्त और चाणक्य के वैमनस्य हो जाने का वर्णन किया है किन्तु दोनों का ही वर्णन विशाखदत्त के आधार पर है पर ब्यौरे में कुछ भेद है। मुद्राराक्षस द्वारा हमको चन्द्रगुप्त में थोड़े स्वाभिमान की रेखा जाग्रत होने का पता चलता है किन्तु वह भी चाणक्य की कूट नीति का एक अङ्ग था जिससे कि राक्षस को यह धोखा हो जाय कि अब चाणक्य इसकी सहायता में नहीं है। मुद्राराक्षस में जिस उत्सव का उल्लेख है वह वसन्तोत्सव है। इन नवीन नाटकों में स्वयं चन्द्रगुप्त का विजयोत्सव है। इस बात में मैं समझता हूँ कि विशाखदत्त ने अधिक बुद्धिमता से काम लिया है। सार्वजनिक उत्सव के बन्द होने से राजा को क्रोध आना स्वाभाविक सा प्रतीत होता है। अपने विजयोत्सव पर भी क्रुद्ध होना कोई अस्वाभाविक नहीं है किन्तु उसमें अधिक बड़प्पन नहीं दिखलाई पड़ता। प्रसादजी ने चन्द्रगुप्त के मुख से उसके माता पिता के रूठ जाने के ऊपर अधिक जोर दिलवाया है। दोनों ही

टककारों का वर्णन प्राय: एक सा है दोनों ही में यह दिखलाई हुवा है कि चन्द्रगुप्त को चाणक्य का नियंत्रण कुछ अखरता है। राय महोदय ने चन्द्रगुप्त को इतना उत्तेजित कर दिया है कि वह चाणक्य को कैद करने की आज्ञा दे देता है किन्तु चाणक्य के आतंक के कारण उसके रोक देने पर किसी की हिम्मत नहीं पड़ती कि उसे पकड़े। गुरुदेव को कैद करने की आज्ञा देना कुछ अनुचित राजमद और अशिष्टता का परिचय देता है।

उत्सव के रोकने में चाणक्य की बुद्धिमत्ता का परिचय चन्द्रगुप्त को शीघ्र ही लग जाता है इस बात को दोनों ही नाटककारों ने दिखलाया है और दोनों ही ने विशाखदत्त का आश्रय लिया है। किन्तु अन्तर इतना है कि प्रसादजी ने चन्द्रगुप्त की रक्षा के लिए उसी घटना में मालविका का बलिदान कराया है। इस बलिदान में त्याग और प्रेम की पराकाष्ठा अवश्य है किन्तु वह बहुत आवश्यक नहीं है। जैसा राय महोदय ने दिखलाया है वैसे बिना मालविका के बलिदान के ही चन्द्रगुप्त की रक्षा हो सकती थी।

मालविका के बलिदान से इतना लाभ अवश्य हुआ है कि कोर्नीलिया का पथ निष्कंटक हो जाता है और चन्द्रगुप्त तथा राज माता के लिए यह धर्म संकट नहीं रहता कि किसके साथ विवाह किया जाय। मालविका यदि जीवित रहती तो कठिन समस्या आती—एक ओर तो मालविका का आत्म बलिदान

और प्रेम दूसरी ओर कोर्नीलिया चन्द्रगुप्त का परस्पर प्रेम तथा राजनीतिक आवश्यकता। राय महोदय ने छाया और हैलना (जो कि मालविका और कोर्नीलिया के स्थानापन्न हैं) के सम्बन्ध में इस समस्या को बड़ी सुन्दरता के साथ हल किया है। उन्होंने दोनों ओर से उदारता की पराकाष्ठा दिखलायी है। हैलना के मुख से क्या ही सुन्दर शब्दों में कहलाया है "आओ बहिन हम दोनों नदियां एक ही सागर में जाकर लीन हो जायँ। सूर्य-किरण और वृष्टि मिलकर मेघ के शरीर में इन्द्रधनुष की रचना करें, काहे का दुख है बहिन एक ही आकाश में क्या सूर्य और चन्द्र दोनों नहीं उदय होते।" यह समझौता बड़ा सुन्दर और काव्य पूर्ण है किन्तु इसमें दो विवाह का नैतिक प्रश्न रह जाता है और नाटक में जहाँ सभ्यताओं की चोट दिखाई है वहाँ दो विवाह की प्रथा से देश का नैतिक मान घटाना बहुत सुन्दर नहीं जंचता। अन्त में हम हैलना अथवा कोर्नीलिया और चन्द्रगुप्त के विवाह के सम्बन्ध में यह अवश्य कहेंगे कि राय की हैलना विश्व प्रेम से अधिक प्रेरित है। वह निजी आकर्षण से चन्द्रगुप्त के साथ विवाह करने के लिए इतनी लालायित नहीं जितनी कि वह दो महान देशों में संधि स्थापन के लिए। प्रसादजी की कोर्नीलिया चन्द्रगुप्त की ओर कुछ आकर्षित मालूम पड़ती है और वह इस विवाह को बलिदान नहीं समझती।

राय महाशय की हैलेना विश्व प्रेम के आवेग में थोड़ी देर के लिए पितृ-स्नेह को भूल जाती है, यद्यपि वह पीछे से सुधर

जाती है। वह सेल्यूकस की हार पर एक तरह से प्रसन्न होती है। प्रसादजी की कोर्नीलिया में यह बात नहीं। उसमें पिता और पुत्री का सम्बन्ध अधिक स्वाभाविकता के साथ निभाया गया है। राय महोदय के सेल्यूकस में स्वदेशाभिमान अधिक है वह हैलना के विवाह के समय राज दरबार में नहीं जाता। प्रसादजी का सेल्यूकस दरबार में जाता है पर कुछ अनिच्छा से।

प्रसादजी ने चन्द्रगुप्त के मुख से सेल्यूकस को विजेता कह कर सम्बोधित कराते हैं। इसमें कुछ व्यङ्गय की ध्वनि सुनाई पड़ती है जो ऐसे अवसर पर थोड़ी अनुचित जान पड़ती है।

दोनों ही नाटककारों ने कूट-नीति-विशारद नृशंस-हृदय चाणक्य में कुछ कोमलता के भाव दिखलाये हैं। राय ने चाणक्य का अपनी खोई हुई लड़की के प्रति वात्सल्य का भाव जो नाटक के महत्व के बैढ़ा देता है—खूब दिखाया है। प्रसादजी ने सुवासिनी के प्रति चाणक्य के हृदय में कोमलता का स्थान रक्खा है किन्तु वह अपने पथ से विचलित नहीं होता और उसका राक्षस से विवाह कराने में सहायक होता है। प्रसादजी ने राक्षस का चरित्र अच्छा तो नहीं दिखलाया है। वह नीचता करता है पर उसके प्रति चाणक्य का उदार भाव सब को सुधार लेता है। प्रसादजी का राक्षस विलासी अधिक है राज-नीतिक कम है। प्रसादजी ने भी उसकी मुद्रा से काम लिया। राय महोदय ने उसका कोई उल्लेख नहीं किया।

दोनों नाटकों के अन्तर का सार हम इस प्रकार से कह

सकते हैं कि राय महोदय के नाटक में विश्व प्रेम की झलक अधिक है और प्रसाद जी के नाटक में देश में संगठन और राष्ट्रीयता के भावों को जाग्रत करने की गूँज है। संसार में दोनों भाव आवश्यक हैं। इस लिए दोनों ने ही अपनी अपनी वाणी से अपने अपने प्रान्त को अलकृत किया है और दोनों ही नाटकों से हम पूर्ण मनोरंजन कर सकते हैं।